

मूल्य : छः रुपये

प्रथम संस्करण : १९६६

अध्यक्ष-विचार : सुशील कालरा

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२/१२, अन्सारी रोड, दरिवागढ़, दिल्ली-६

मुद्रक : काक प्रिंटर्स, दिल्ली-६२

पहले लोग विप्रवासित्र के द्वारा निर्मित नयेनक्षत्रलोक की वास्तविकता को कपोल-कल्पना समझा करने थे, पर अब रूस और अमरीका नये जग-ग्रह स्थापित कर रहे हैं। पहले सदेह स्वयं जाने की बात असत्य समझी जाती थी, अब मानव चन्द्रलोक में जाने की तैयारी कर रहा है और वहाँ से नये-नये उपकरणों द्वारा सकेत ग्रहण किए जा रहे हैं। प्लेनचिड पर मात्र भी स्वयंसेव आत्माएं जब अपना सदेश लोगों को सिखा सकती हैं तो वे हनको फोन नहीं कर सकती ? उन्होंने हमें फोन किया है, उन्होंने हमें बताया है प्रमाण दिए हैं। इन्हें कोई असत्य साबित करे तो हम जानें !

यह दुष्प्रभाव हिन्दी साहित्य के इतिहास में क्षेत्रक नहीं, भूल-गुणार की मात्र स्वीकार की जाती चाहिए। जो ऐसा नहीं करेगा वह साहित्य के साथ सम्पाद करेगा।

हिन्दी के साथ बहुत अत्याचार हो रहा है। उगते साहित्य को तो कम-से-कम बचना ही चाये। सदाक नदी, गण ।

१३ दिसम्बर, १९६६

१०१३ का पोस्टल नॉम्बर,

बोर्डर बोर्ड, दिसम्बर ६

गोपालप्रसाद व्यास

गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनका विवाह रत्नावली से हुआ था। एक दिन अपनी श्रीमती से फटकारे जाने पर उनमें विरक्ति आ गई और वह कवि से लेकर महात्मा तक बन गए।

पाम

मैं तुलसीदास बोल रहा हूँ

बजे होंगे बारह । दिन के नहीं, रात के । घंटी बजी । दरवाजे की नहो, टेलीफोन की । रजाई में राज रहे थे । बुरा लगा । सोना हराम कर दिया है—सरकार ने भी और फोन करने वालों ने भी । हमने श्रीमतीजी से कहा—

“प्राणवल्लभे, हे कलिकाल में मिथलेश-नन्दिनी की तरह वन्दनीया प्राणाधिके! तनिक देखो तो सही कि असमय आज तुम्हारे पति-परमेश्वर को कष्ट देने का साहस कौन कर रहा है ?”

पत्नी कुनमुनाई—“कैमे हो तुमजी ? न जाने कौन इतनी रात गए, जाने क्या कहने वाला है ? अपरिचित की अनसमझी बात को रात में सुनने के लिए अपनी पत्नी को बरबस ठेल रहे हो ! पतिव्रताएं रात के समय पति के कक्ष की देहली नहीं लांघा करतीं । जाने कौन हो, क्या कहे ?”

हमने समझाया—“आर्यो ! कोई भी हो, तुम्हें निश्चिंत रहना चाहिए । मैं तुमसे केवल पांच गज की दूरी पर ही तो हूँ । खतरा हो तो चीख पड़ना । रजाई फेंककर घा कूदूंगा । जरा जाकर सुनो तो सही । दो-चार दिन की ही बात है । शीत-लहर हमेशा थोड़े ही रहेगी । रानी, मेरी भामिनी, मान जाओ । सुनो तो सही जाकर । अगर फोन पर कोई नारी-कंठ हुआ तो तुम्हारा स्वर सुनते ही चौंका फेंक देगा । अगर पुरुष-कंठ हो तो तुम धिधियाकर रिसीवर पटक आना । बस, इतनी-सी ही तो बात है ।”

मगर जैसे सुचेताजी ने कृपलानी की नही मानी और कांग्रेस

हलो-हलो

३

में डटी ही रहों, वैसे ही हमारे लाख उकसाने पर भी सुखाड़िया की तरह हमारी श्रीमतीजी अपनी सुख-सेज पर अड़ी ही रही और हारकर हमें ही लालबहादुर शास्त्री की तरह थोड़े समय के लिए अपनी मिनिस्ट्री को छोड़कर बाहर फोन तक जाना पड़ा। “हलो, हलो !”

“जी, बोलिए।”

“मैं तुलसीदास बोल रहा हूँ !”

“कौन ? ?”

की क्या कहने वाले आप ही हैं ?”

“जी !”

“मानव की जिह्वा-रूपी देहरी पर राम-नाम-रूपी मणि का दीपक जलाकर बाहर-भीतर उजाला करने वाले सन्त आप ही हैं ?”

“जी, मैं वही राम का अकिंचन भक्त हूँ।”

“कवितावली, विनयपत्रिका, रामललानहछू—ये सब आपने ही लिखे हैं न ?”

“हां, प्रभु की कृपा से तब कुछ ऐसी सेवा बन पड़ी थी। नहीं तो मैं किस लायक हूँ।”

“प्रभो, आपने ही यह लिखा था न—

बोल-गवार गूढ़ पशु नारी।

ये सब साधन के अधिकारी ॥”

“हां, शायद रामायण में मैंने ऐसा कही लिखा है। सुनिए, मैंने एक जरूरी काम में इस समय आपको कष्ट दिया है।”

हमने कहा—“टहलिए गुस्ताईजी, एक मिनट टहरिए ! केवल एक मिनट ! मैं अभी हाजिर हुवा।” कहते-कहते हम अपने कमरे में भागकर आए और श्रीमतीजी के ऊपर पड़े लिहाफ को गीचकर उनसे कहा—“गुनगी हो ! गुना तुमने ? स्वर्ग में तुलसीदासजी का फोन आया है।”

श्रीमतीजी हड़बड़ाकर उठ पड़ी। उन्होंने भट में बिजली का बटन दबाया। हमें फिर से पाव तक बई पार देकर बोलीं—“कहीं दिमाग लो शराब नहीं हो गया ?”

यों हम अपनी पत्नी को गो में गो निग्यानवे बानों को गिर भूटा-कर स्वीकार कर लिया करने हैं मगर घात्र जीवन् में पट्टी बार हमने उनसे समझति प्रकट की। कहा—“नहीं भगवती, न मैं गुनाय में हारा हूँ, न दण्ड या मन्त्रिमण्डल से निकाला गया हूँ, न मैं घात्र दस्तर नेट पट्टा था, न मोटकर घर ही देरी में आया हूँ, न गंगा-सम्पत्ति में टूट टूटा हुआ हूँ और न गंगादक ने मेरी रचना की लौटाई

है, फिर मेरा दिमाग खराब क्यों होता ? वह तुलसीदासजी ही बोल रहे हैं !”

“अगर दिमाग खराब नहीं हुआ है तो यह बताओ कि स्वर्ग से दिल्ली का संबंध कब से कायम हुआ है ? ये ऑपरेटर लोग रात को अपनी नींद दूर करने के लिए ऐसे ही मजाक किया करते हैं । मुह ठंक्कर सो जाओ ! कोई उलसी-तुलसीदास नहीं बोल रहे । लोग तुम्हें बना रहे हैं ।”



हलो-हलो

७

जीवन भर किसी का अहित नहीं किया। अब भी नहीं करूंगा।'

"अच्छा महाराज, यह न सही। मगर यह तो बताइए कि आपने रत्नावली के साथ इतना अन्याय क्यों किया था?"

"कौन रत्नावली?"

"प्रभो वही आपकी पत्नी! जिसके उपदेश से आपने राम-रस चखा। जिसके लिए आप गंगा पार कर अंधेरी रात में अपनी समुराल पहुँचे। जिसकी

सजी के उस
फोन पर
थोर सहसा
व हो जाने
तचीत का
ये न बह

तुलसीदासजी के उस
दिन अचानक फोन पर
प्रकट हो उठने और सहसा
लाइन के खराब हो जाने
के कारण वात्सवीत का
तिलसिला आगे न बढ़

यह मैंने कहा कि मेरी शादी हुई थी

“हलो, हलो ! टू सेवन एट डबल टू वन ?”

“जी, हां ! बोल रहे हैं।”

“हलो, हलो ! इलाहाबाद ! बोलिए ! दिल्ली ! जी, बोलिए !”

“.....”

“हलो ! हलो !! इलाहाबाद !”

“टू सेवन एट डबल टू वन ? तुलसीदासजी से बातें कीजिए !”

“जय जानकी-जीवन ! मैं तुलसीदास बोल रहा हूँ। अच्छे हैं ?”

हमने विनीत-भाव से उत्तर दिया—“हमारी कुशल तुम्हारी दायी।”

बिना भूमिका के गुसाईंजी ने बात प्रारम्भ की—“हां, उस दिन तो बात अधूरी ही रह गई। मैं कह रहा था कि इतिहास-लेखकों ने मेरे साथ न्याय नहीं किया।”

“कैसे, गुसाईंजी ?” हमने पूछा।

“किसी निषेध को अगर आप करोड़ीमल कहें तो उसे कैसे समेगा ?”

“अवश्य ही समेगा नहीं समेगा।”

“और जिसके मुखरपी दरेंता को शीतला ने अपनी कर्कश टांकी से अच्छी तरह मोटा है, उसे घात चन्द्राकर कहें तो उसकी क्या गति होती ?”

“वही जो अभिनन्दन-नर्तों से घाने दुर्गम गुणों का त्रिक घाने पर

स्वयंभू नेता की होती है ! ”

“और यदि किसी विवाहेच्छुक कुमारी को किसी भव्य पार्टी में किसी सुन्दर युवक से मिलाने समय कहा जाए कि आप हैं श्रीमती मधुरिमाजी ! ”

“तो वह कहने वाले पर खिसियानी बिल्ली की तरह भपट पड़ेगी ! ”

“ठीक कहते हैं आप,” तुलसीदासजी ने ठंडी आह भरते

यह मैंने कहां कहा है कि मेरी शादी हुई थी

“हलो, हलो ! दू सेवन एट डबल दू वन ?”

“जी, हां ! बोल रहे हैं ।”

“हलो, हलो ! इलाहाबाद ! बोलिए ! दिल्ली ! जी, बोलिए !”

“.....”

“हलो ! हलो !! इलाहाबाद !”

“दू सेवन एट डबल दू वन ? तुलसीदासजी से बात कीजिए !”

“जय जानकी-जीवन ! मैं तुलसीदास बोल रहा हूं । अच्छे हैं ?”

हमने विनीत-भाव से उत्तर दिया—“हमरी कुशल तुम्हारी दाया ।”

बिना भूमिका के गुसाईंजी ने बात प्रारम्भ की—“हां, उस दिन तो बात अधूरी ही रह गई । मैं कह रहा था कि इतिहास-लेखकों ने मेरे साथ न्याय नहीं किया ।”

“कैसे, गुसाईंजी ?” हमने पूछा ।

“किसी निर्धन को अगर आप करोड़ीमल कहें तो उसे कैसा लगेगा ?”

“अवश्य ही भला नहीं लगेगा ।”

मुखरूपी दरेंता की शीतला ने अपनी कर्कश टांकी

कहें तो उसकी क्या गति

जिन्म आने पर

स्वयंभू नेता की होती है ! ”

“और यदि किसी विवाहेच्छुक कुमारी को किसी भव्य पार्टी में किसी सुन्दर युवक से मिलाने समय कहा जाए कि आप हैं श्रीमती मधुरिमाजी ! ”

“तो वह कहने वाले पर खिसियानी बिल्ली की तरह झपट पड़ेगी ! ”

“ठीक कहते हैं आप,” तुलसीदासजी ने ठडी आह भरते

“जी, याद है ! ”

“क्या याद है, जरा सुनाओ तो ? ”

हमने तुरन्त ‘कवितावली’ का प्रसिद्ध सर्वथा तुलसीदासजी को सुना दिया—

“विन्ध्य के बासी उदासी महा व्रतधारी सबै विनु नारि दुसारे,
गौतम तीय तरी ‘तुलसी’ सो क्या मुनि भे मुनि-वृन्द सुचारे ।
हूँ है सिला सब चन्दमुखी परसे पद-पंकज मंजु तिहारे,
कोन्ही भली रघुनायकजू कछुनाकर कानन कों पग धारे ! ”

“बिलकुल ठीक ! अब आप सोचिए कि जब विन्ध्याचल का हर तपस्वी यह कामना कर रहा है कि राम के इस क्षेत्र में चरण पड़ते ही यहां की हर शिला नारी हो उठेगी ! क्या अहिल्या, केवट और मुनियों के उक्त प्रकरण में आपको लेखक के आकुल अन्तर की कल्पना पुकार सुनाई नहीं पड़ती ? ”

हमने तत्काल प्रतिवाद किया — “गुसाईंजी, आप यह हमसे क्या मजाक कर रहे हैं ? भक्तिरस-प्राकृत आपके सद्ग्रंथों ने हमारे मानस-पटल पर आपकी जो पावन मूर्ति अंकित की है, उसे आप सुद भी मिटाना चाहें तो नहीं मिट सकती । भाड़ में जाए ऐसा मनोविज्ञान ! हमारे आराध्य तुलसी गन्त हैं, समस्कारिक हैं ! ”

घोस में उधर से होंसी की आवाज सुनाई दी । वह कह रहे थे—
“यही न कि मैंने मुर्दे को जीवित कर दिया था ! यही न कि घोसों में मेरी कुटी की रक्षा करने के लिए स्वयं राम-लखन घनुष-बाण लेकर आए थे । यही न कि मेरे इशारेपर हनुमानजी के सैनिकों ने बादशाह के जिन को घेर लिया था ! ”

‘जी, हा ! जी, हा ! ’

‘और ऐसा समर्थ आदमी जीवन में अपने लिए केवल एक सतिनी भी नहीं प्रान्त कर सता ? ’

हमने बीच में ही टोटा—“पर महाराज, आपका विवाह तो रत्नावली के हुआ था ? ”

“यह मैंने कहीं कहा है क्या ? आपने रामायण, कवितावली, नयपत्रिका, दोहावली में कहीं इसका उल्लेख पढ़ा है ?”

“नहीं, भगवन ! पर आपने तो राम-कथा कही है, अपने सम्बन्ध तो आजकल के कवि लोग कहते हैं । वे तो पीछे के लोगों के लिए जलीफ करने को कुछ छोड़ते ही नहीं ।”

“मैंने भी कुछ नहीं छोड़ा है । परन्तु कोई पढ़े तो सही ? क्या ‘जायो कल मंगन’

हमारे हृदय में भी दुंदुभी बजती थी। कोई तिरछे नयनों से इंगित कर हमें भी घबना स्वामी कहने सजुना जाए इसकी कामना थी। पर हमारे भाग्य में तो माताएं और राक्षसियां ही लिखी थीं।”

‘क्या मतलब?’ हमारे यह पूछने पर कविकुल-चूड़ामणि तुलसीदासजी ने बताया—“जगन्माता जानकी, रामजी की माता कौशल्या, सरनलासजी की माता गुमिना, भरतजी की माता कैंकेयी और त्रिदेवों की माता अनमूया का ही तो हमने यशोगान किया है। इनके प्रति-रिक्त ताड़का, मंथरा, दूर्पनसा, लंकिनी, मन्दोदरी ये सब राक्षसियां हैं। बेचारी पत्नी तो हमारे साहित्य में आयी ही नहीं। आती भी कैसे? जीवन-भर उससे साक्षात्कार जो न हुआ ! हमारे जीवन और साहित्य की यही सबसे बड़ी कमी रही। पर अब पछताए होत का?”

हमने पूछा—“महाराज, खंर जो हुआ सो हुआ। मगर आज के साहित्यकारों के लिए अब आपका क्या सन्देश है?”

तुलसीदासजी बोले—“बस, मुझे एक ही बात कहनी है और वह यह —

एके घरम, एक व्रत, नेमा !

काय, वचन, मन तिय-पद प्रेमा !”

और इतना कहकर उन्होंने खट-से रिसीवर रख दिया।

महाकवि सूरदास ने स्वर्ग
से फोन किया है कि मेरे साथ
हिन्दी के इतिहासकारों ने भारी
अन्धाय किया है । उसका प्रति-
कार होना चाहिए । कौन
कहता है कि मैं अन्धा था । मुझे

कौन कहता है मुझे दिखाई नहीं देता था

सबेरे-सबेरे हम त्रिफला से अपनी आँखें धो रहे थे कि फोन की घंटी बजी। बेटी गुड्डी ने बताया—“चाचाजी, ट्रंक-काल है।”

जल्दी-जल्दी तौलिए से अपना मुँह पोंछते-पोंछते हमने पूछा—
“कहाँ से है ? कौन बोल रहा है ?”

गुड्डी बोली—“पता नहीं, कोई बुड्ढा गंवई बोली में बोल रहा है। जल्दी आइए।”

हमने रिमीवर कान पर रखते हुए कहा—“जी !”

“मैं मूरज बोल रहा हूँ !”

हमने कहा—“क्षमा कीजिए, मैंने पहचाना नहीं।”

उत्तर मिला—“मैं दिल्ली से आठ मील उरँ सीढ़ी गाँव को रहिबे चारो हूँ। बाबूजी, मेरे संग बड़ी अन्याय भयी है।”

हमने अन्यायमनस्कता से पीछा छुड़ाने के लिए कहा—“सीढ़ी तो गुठगाँवा जिने के अन्नमंत है। हरियाणा के मामले में मैं कुछ नहीं कर सकता। धार अपने एम०एल०ए० या जिला-मजिस्ट्रेटों से मिलिए। क्या कोई जमीन-ब्रायदाद या पचायन का मामला है ?”

उपर में धावाज आयी “नाहिं भइया, जमीन-ब्रायदाद तो हमारे पुरावन के ऊ नाहिं हनी। जीवन-भर में बाऊ की पचायन मे नारी पर्यो।”

“तो फिर किंगों में फौजदारी हो गई होगी ? तुम्हारे गाँव का सरदार या बज्जत कौन है ? बाट, साना या कोई ब्राह्मण देवता ?”

उत्तर कुछ अजीब-सा ही मिला—“भइया, फौजदारी तो मेरी

हलो-हलो

१७

एक बेर बंसीवारे ई ते भई हती । वा सों मैंने स्वाफ-स्वाफ कह दई हती—

बांह छुड़ाएँ जात ही,
निबल जानि कैं मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे,
मरद बढोंगो तोहि ॥

का तुम अबई तलक मोय नाहि पहिचाने ? ”

हम एक क्षण के लिए सकते में पड़ ग ।

“तो वास्तविकता क्या है, सूरदासजी ?”

“बात तो भइयाजी, बहुतेरी एं। पै संक्षेप में मोय इतनी ही कहनी ऐ के मैं वैष्णव हूं और महाप्रभु श्री वत्सभाचार्यजी को सेवक हूं। मैंने जीवन-पर्यन्त श्री गिरिराज घरण प्रभु की लीला गाई एं और मैं अन्धो नाहि हती। मैंने दुनिया भली प्रकार सूं देखी हती।”

“फिर आपके विषय में यह सब प्रवाद कैसे फैला ? कुछ-न-कुछ तो बात होगी ही !” हमने आश्चर्य से पूछा।

“बात तो केवल इतनी-सी हती के साठ बरस की उमर में मेरी एक आंख में मोतियाबिन्दु उतरि आयी। वा जमाने में आजकल की नाईं, कहा कहें है वा सो, आपरेसुन नाहि होते हते। जा कारन मोहि कछु कम दीखवे लग्यो। धीरे-धीरे दूसरी आंख हू पहली के वियोग में दूबरी होन लगी और दुष्ट लोग मोहे सूरदास कहिवे लगे।”

हमने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—“यह तो बहुत बुरा हुआ। मगर महाकवि, आज इस बात को कौन सच मानेगा ?”

सूरदासजी ने तुरन्त उत्तर दिया—“मैंने याही कारन तो आपको फोन किया है। मैं आपको कछु प्रमान देऊं हूं, तिनकूं तुम जगत में उजागर करो।”

हम सांस रोककर सुनने लगे और सूरदासजी ने कहना शुरू किया—“हमने अपने एक पद में स्वाफ-स्वाफ लिख्यो है—

सूरदास की एक आंख है,

ताह में कछु कानो।

का जाते बढ़िकें कोऊ और अन्तर-साच्छ की आवश्यकता रहि जाय है ?”

“परन्तु सूरदासजी, इसका अर्थ तो विद्वान लोग भक्ति-परम्परा में आपकी अतिशय विनय के रूप में लेते हैं। कहते हैं कि सूरदास तो ज्ञान और भक्ति की दो आंखों में से केवल एक भक्ति की आंख से ही दुनिया को देखते हैं और वह भी थोड़ा-थोड़ा।”

“जिही ती भीकवी है। कं पढ़े-लिखे लोग बिना मतलब के ग्रंथ की

हलो-हलो

अनर्थ करि डारै हैं । पहलै मेरी आखन तें पानी कौ ठरका बहन लग
हौ । ताही समै मैंने श्रीनाथ जी कूं यह पद गाय कैं सुनायो—नि
दिन बरसत नैन हमारे !”

लम्बी साँस भर सूरदासजी आगे कहने लगे—“पै टेढ़ी ट
बारे नै हमारी कोई सुनवाई नाहीं करी । तब काहू नैं हम ते कही
जो सूरदासजी, मथूरा सहर में एक मदनगोपाल नाम को आद

पारासोली कैसे जाते हैं। भग्यो भादमी कहूं भोली पहाड़ पे रोज चढ़ि-उतरि सके हैं ? और 'वार्ता' को ई लिखी प्रमान मानी हो तो वार्ता में तो एक स्थान पे ऐसी हू लिखी है कै गुरदास मन्दिर के काम ते कयहु-कयहु मयुरा घायो-जायो करते हैं। सो तुमही कहो, भग्य भादमीन के सिपुरद कयहु बारह कोस दूरि जइ के मन्दिर के प्रबंध को काम सोंपो जाय ऐ ?"

एकएक हमारे ध्यान में गुरदास का प्रकृति-वर्णन, रंगों की छटा, बालकृष्ण की घिरकन, उनका 'हरि पालने भूलावे' वाला पद बिजली की तरह कौंध गया। निस्संदेह मानव के रूप-रंग का ऐसा सूक्ष्म वर्णन करने वाला कवि कहीं अंधा हो सकता है !

गुरदास ने कहा—“हमे अपने जीवन में ई जा बात को कछु-कछु आभास है गयो हतो कै लोग हमें सूझती नाहि कहेंगे। जाते हमने देह छोड़िबे तें पहले हू गुसाईंजी के सामने आंखिन की ही चर्चा करी—

खंजन नैन रूप-रस माने !
चलि-चलि जात निकट सबननि के,
उलटि-मलटि ताटक फंदाने ।
'गुरदास' अंजन गुन अटके,
नतर अवहि उडि जाने !

“भइयाजी, जा को मतलब जि है के एक समय हमारी रसिक आंखें खंजन के समान होती। वे इतके लम्बी होती के कानन तक उनके कोने पहुंच्यो करते हैं। वे इतनी बड़ी और चंचल होती कै जो हम बिनु में काजर नाय लगाते तो निकस ही पड़ती। वस, जाते आगे हम आपते और का कहें ? तुम खुद बहोत समझदार हो। हिन्दी के काहू सोध करिवेवारे तक हमारी बात पहुंचाय दीजों। आगे को काम तो बु आपते ऊ चोखो करि लेगो। अच्छी, अब जय श्रीकृष्ण करूं हूं !”

वार्तालाप के अन्त में गुरदासजी ने बताया कि कबीरदासजी की राम की बहुरिया आपसे बातें करने को बहुत उत्सुक हैं। अगर उनका फोन आवे तो सुन लीजिएगा।

कबीरदासजी ने 'राम की
बहुरिया' को बड़ी खरी-खोटी
सुनाई है। वह ठगिनी है, जादू-
गरनी है। जो उसके जाल में फँसा,
वही भरा। मगर एक दिन फोन

जी, मेरा नाम 'राम की बहुरिया' है

“हल्लो जी ! मैं माया बोल रही हूँ,” एक बारीक और मीठी आवाज कहीं दूर से फोन पर आती हुई सुनाई दी : “...जी हैं क्या ?”

अपने स्वर में पुलक भरते हुए हमने कहा—“जी हां, मैं बोल रहा हूँ। आज्ञा कीजिए !”

बीणा-विनिन्दित स्वर उत्तर में पुनः गूँज उठा—“कुछ नहीं जी, बहुत दिनों से आपके दर्शनों की इच्छा थी, पर निकलना ही नहीं होता। सोचा, आज आपको फोन ही कर लूँ।”

“जी, बड़ी कृपा हुई। कहिए, क्या आज्ञा है ?” और मन में सोचने लगा—कोन है यह मायादेवी ? माया तो गरीब ग्राहकों से कौनों दूर भागती है। यह क्या माया है ? हो सकता है श्रीमतीजी की कोई सहेली हो ? पूछा—“घरफ़ीजी को बुलाऊँ ?”

‘नहीं-नहीं, मुझे आपसे ही काम है।’

हमने मिर खुजलाकर सोचा—माया का हमसे क्या काम हो सकता है ? स्वर से तो यह कोई कवयित्री या अभिनेत्री मानूँगी होगी। पर नहीं, आज्ञाकार तो हर सड़की स्वर से कवयित्री और शकल से अभिनेत्री दिखाई पड़ती है। हम सोच ही रहे थे, कि सुनाई दिया—“आजकल कुछ दिनों से मैं नई दिल्ली आयी हुई हूँ।”

घोट ! तब तो यह कोई उदात्तमान समाज-सेविका है। किसी डिप्टमण्ट में सलनऊ, भोगल या चण्डीगढ़ में तगरीक आयी है। किसी ने कह दिया होगा कि मैं वक्ता हूँ और उनके काम आ सकता हूँ। नहीं तो कोई, और खास तौर से सड़कियाँ, किली की बिना

हलो-हलो

८९६२

भत्तलव के फोन करती हैं ?

हमें चुप देखकर उन्होंने पुनः कहा — 'बेटो आपने मुझे पहचान
नही ?'

मन में तो आया कि कह दूँ — 'अजी ! माया से अपनी पहचान
कहां ?' पर न जाने कौन हो, क्या समझे ? सोचकर चुप रह गया ।

पर उधर से फोन चुप रहने के लिए नहीं किया गया था

नहीं देते ।”

हमने घुटकी मी—“वे क्या कहते ? ?”

‘वे कहते हैं—

“बुलबुल कहें,

कि मैना कहें,

कि मेरी गीत-धिरंगा बाँधो तो ?

ये रगमय अपनी चोंच—

कोपलिया सोचो तो ।”

हमने सोचा—मायादेवी है तो सरस । पूछा—“आप लोग बनारस में करते क्या थे ?”

मायादेवी ने बताया—“हमारे ‘ठनकी’ साड़ियों की दुकान थी । हम लोग कबीरदास का माल सरोदते थे ।”

“कबीरदास अपने काम में कैसे थे ?”

“बंदरफुल । बूढ़ा अपने काम में बहुत चौचक था । कतान की साड़ी उसके हाथ की बाजार में बहुत पसन्द की जाती थी । कपड़े को ठोककर बुनता था । बनारसी काम पर उसका हाथ बहुत सधा था । हमेशा नए डिजाइन के रेजे धाते थे, उसके दिमाग में । मैंने तो हमेशा कविता के मुकाबले उसकी बनाई हुई साड़ी ही अधिक पसन्द की । अभी भी मेरे पास उसकी एकाध चीज पड़ी होगी । परसाहब, या बड़ा सनकी । उसने कोई भी आर्डर कभी भी वक्त पर सप्लाई नहीं किया । कौंठी वाले खरीददार उसके चक्कर ही लगाया करते थे । ‘विजनिस्’ को कभी उसने ‘विजनिस्’ के रूप में लिया ही नहीं, लेकिन उसका लड़का ऐसा नहीं था । वह दुनियादार था । कच्चा-पक्का, उल्टा-सीधा बेचकर पैसे कमाने की धुन उसमें थी, इसीलिए कबीरदास की उससे नहीं पटती थी । एक जगह उन्होंने लिख भी दिया था—

बूढ़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल ।

हरि का सुमरन छोड़कर, घर ले आया माल ।”

हमने प्रसंग को बदलते हुए देवीजी से पूछा—“आपका कहना

हलो-हलो

२

ठीक है, मगर आपका कबीरदासजी से क्या भगड़ा था ?”

“यह मेरी भी समझ में आज तक नहीं आया । मैं अच्छा पहनती थी, अच्छा खाती थी, अच्छी लगती थी, अच्छे लोगों से मिलती-जुलती थी । शायद बूढ़े को ये बातें पसन्द नहीं थीं । वह धूर-धूरकर मुझे अपनी मित्रमित्री आंखों से गुस्से में ताका करता था और मुझे सुना सुनाकर गाया करता था—

ठगिनी, क्या नैन

* ?

कबीर दास दासदास दास, निर भूदासी दास,

आमर देवे दासदास दास दासदास दास ।”

‘तो कबीरदास को कवि बनाने वाली घाप ही है !’

उत्तर मिला—यह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकती, मगर इतना
संभव है कि गरीब मुझे जन्म-भर कोमता रहा—

कबीर माया मोहित, जैसी मोठी साह ।

मगुर की छिया भई, नहीं तो करनी भाह ।”

हमने परिहास किया—“मायादेवी, मोठी तो घाप है ही। कबीर-
दास ने कहा तो गसत क्या कहा ?”

मायाजी सजाकर बोलीं—“घाप भी कैसी बातें करते हैं जी !
किसी शादीशुदा धीरत के बारे में इस तरह की बातें लिखना कोई
एटीकेट है क्या ?”

हमने कहा—“मगर कबीरदास तो इससे तत्त्वज्ञान को प्राप्त
हो ही गए। मायादेवी, घाप नहीं जानतीं किस प्रकार आपने
... में कबीरदास की ‘कुण्डलिनी’ को जाग्रत कर दिया। कैसे
... देखकर उनका ‘अष्टकमल दल चरखा’ डोलने लगा ।

हलो-हलो

आप धन्य हैं, कि आपने हिन्दी को इतना महान कवि प्रदान कर दिया। ऐसी वृत्ति वाला खरा कवि, जिसने आशा और तृष्णा से कुछ का त्याग कर दिया हो, आज जगत में दूसरा नहीं है।”

हमारी बात शायद सुनकर मायादेवी का मुंह बिचक गया हो उन्होंने कहा—आप कवियों को सिर्फ ऊपर से ही जानते हैं, अन्दर से नहीं। क्या आपने अपने कबीरदास की यह घोषणा नहीं पढ़ी ?

कबीर माया डाकनीं, गर जिस ही को शाई ।

दाग उगारी पापनीं, जे संतां बेरे जाद ।

मैंने जब उसकी गाली-गलोज सुनी तो एक बार अपनी एक सहेली को उसके पास भेजा और पुछवाया—‘घातिर तुम माया के पीछे क्यों पड़े हो ?’ तो आप जानते हैं, बूढ़े ने क्या उत्तर दिया ? बोला—

कबीर माया मोहिनी, मोहे जान-मुजान ।

भागे हू छुटै नहीं, भरि-भरि मारे बान ॥

“जब मैंने यह सुना, तब मैंने अपना सिर पीट लिया । बूढ़ा काफी सनक गया था । वह उसी दिन से बीखलाया-बीखलाया-सा रहने लगा । घर-घर भी छोड़ दिया । ताने-बाने को उसने उठाकर खुद ही फेंक दिया । और एक दिन ‘आज’ कार्यालय के चौराहे पर गला फाड़ने लगा—

कबिरा सडा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ,

जो सर देव आपना, चले हमारे साथ ।”

“तो कबीरदास को कवि बनाने वाली आप ही हैं !”

उत्तर मिला—“यह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकती, मगर इतना अवश्य है कि गरीब मुझे जन्म-भर कोसता रहा—

कबीर माया मोहिनी, जैसी मीठी खांड ।

सतगुर की किरपा नई, नहीं तो करती भांड ।”

हमने परिहास किया—“मायादेवी, मीठी तो आप हैं ही । कबीर-दास ने कहा तो गलत क्या कहा ?”

मायाजी लजाकर बोली—“आप भी कैसी बातें करते हैं जी ! किसी शादीशुदा औरत के बारे में इस तरह की बातें लिखना कोई एटीकेट है क्या ?”

हमने कहा—“मगर कबीरदास तो इससे तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो ही गए । मायादेवी, आप नहीं जानतीं किस प्रकार आपने मनजाने में कबीरदास की ‘कुण्डलिनी’ को जाग्रत कर दिया । कैसे आपको देखकर उनका ‘मष्टकमल दल चरखा’ डोलने लगा ।

हलो-हलो

२

आप धन्य हैं, कि आपने हिन्दी को इतना महान कवि प्रदान कर दिया। ऐसी वृत्ति वाला खरा कवि, जिसने आशा और तुष्णा से कुछ का त्याग कर दिया हो, आज जगत में दूसरा नहीं है।”

हमारी बात शायद सुनकर मायादेवी का मुंह बिचक गया हो उन्होंने कहा—आप कवियों को सिर्फ ऊपर से ही जानते हैं, भन्द से नहीं। क्या आपने अपने कबीरदास की यह धोपणा नहीं पढ़ी ?

माया मरी

कबीर माया डाकनीं, सब किस ही को सार्ई ।

दात उपारौ पापनी, जे संतों नेरे जाई ।

मैंने जब उसकी गाली-गलौज सुनी तो एक बार अपनी एक सहेली को उसके पास भेजा और पुछवाया—‘आखिर तुम माया के पीछे क्यों पड़े हो ?’ तो आप जानते हैं, बूढ़े ने क्या उत्तर दिया ? बोला—

कबीर माया मोहिनी, मोहे जान-भुजान ।

भागै हू छुटै नहीं, भरि-भरि मारे बान ॥

“जब मैंने यह सुना, तब मैंने अपना सिर पीट लिया । बूढ़ा काफी सनक गया था । वह उसी दिन से बीखलाया-बीखलाया-सा रहने लगा । घर-बार भी छोड़ दिया । ताने-बाने को उसने उठाकर सुद ही फेंक दिया । और एक दिन ‘आज’ कार्यालय के चौराहे पर गला फाड़ने लगा—

कबिरा सदा बाजार में, लिए मुवाठी हाथ,

जो सर देवे आपना, चने हमारे साथ ।”

‘तो कबीरदास को कवि बनाने वाली आप ही हैं !’

उत्तर मिला — ‘मह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकती, मगर इतना भयद है कि गरीब मुझे जन्म-भर कोमता रहा—

कबीर माया मोहिनी, जैमी मोठी मांड ।

मनगुर की किरण भई, नहीं तो करती मांड ।”

हमने परिहास किया—‘मायादेवी, भीठी तो आप हैं ही । कबीर-दास ने कहा तो गलत क्या कहा ?’

मायादेवी मजाकर बोली—‘आप भी कैसी बातें करने हैं श्री ! किसी शादीमुदा औरत के बारे में इस तरह की बातें लिखना कोई एटीसेट है क्या ?’

हमने कहा—‘मगर कबीरदास तो हमने तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो ही गए । मायादेवी, आप नहीं जानती किम प्रकार

दरबाने में कबीरदास की ‘कुशास्त्रिणी’ को जायन कर ।

दरबाने देवदर उबका ‘अष्टवक्त्र दण्ड बरमा’ ।”

हलो-हलो

२७

आप चन्ध हैं, कि आपने हिन्दी को इतना महान कवि प्रदान कर दिया । ऐसी वृत्ति वाला खरा कवि, जिसने आशा और तृष्णा सब कुछ का त्याग कर दिया हो, आज जगत में दूसरा नहीं है ।”

हमारी बात शायद सुनकर मायादेवी का मुंह बिचक गया हो । उन्होंने कहा—आप कवियों को सिर्फ ऊपर से ही जानते हैं, अन्दर से नहीं । क्या आपने अपने कबीरदास की यह धोषणा नहीं पढ़ी ?

‘हिन्दी के प्रसिद्ध कवि आचार्य
केशवदास के बाल लालबहादुर शास्त्री
की तरह मुलायम और कामराज की
तरह काले थे । वे कृपलानी की तरह

केशवदास के बाल काले थे

उस दिन जब फोन पर प्रवीनराय मुस्करित हुईं, तब हमारी उम्र में सहसा दस वर्ष का सुधार हो गया। स्वर का जादू कंसा होता है, यह हमने उसी दिन जाना। ऋषभ, गांधार और मध्यम का पता ही न था। केवल पंचम-ही-पंचम के स्वर बज रहे थे। हमने दौड़कर पहले रेडियो बन्द किया। 'विविध भारती' पर लता का गीत आ रहा था। कहां लता और कहां प्रवीनराय! हमने पड्ज पर अपने स्वर को बांधकर कहा—“हे काव्यकला-प्रवीणे, हे गुन-गन आगरी, ओरछा के नेह-निकुंजों में नव किसलय के समान लहलहाने वाली नागरी, हे आचार्य केशव की प्रेरणा और इंद्रजीत-सिंह की प्रिये, बताइए, मैं आपकी क्या सेवा करके अपने को धन्य अनुभव कर सकता हूं?”

जैसे अमुए की ढाली से कोयल कूक उठी हो, सुनाई दिया—“थैंक्यू—आई मीन धन्यवाद। मैंने किसी खास ‘परपज’ से नहीं, अपने फैमिली ट्यूटर, आई मीन गुरुजी के बारे में फैली हुई गन्दी अफवाहों को मिटाने के लिहाज से फोन किया है।”

हम स्वर-गंगा में डूबते-उतराते वचन-माधुरी का पान करने लगे। प्रवीन कह रही थी—“मेरा ‘बिगनिंग’ से ही कविता में ‘टेस्ट’ रहा है। मैंने डियर इन्दर से कहा। वह केशवदास को ले आए और मेरा ‘ट्यूटर’ बना दिया। मैं उनसे छन्द, अलंकार, रस आदि कभी-कभी पढ़ लेती थी।”

हमने बीच में ही टोककर कहा—“पर हमने तो सुना है कि कविता में आपकी बड़ी दिलचस्पी थी। केशवदासजी आपके शिक्षक

हलो-हलो

३१

ही नहीं, अंतरंग मित्र भी थे। आपकी लिखी हुई कई कविताएं हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध हैं।”

प्रवीनराय पंचम से घेंवत पर चढ़ गई और बोली—“नॉन्सेन्स। दैट वाज नोट माई हॉथी, कविता तो मेरे लिए शगल था। डियर इन्दर को चूँकि कविता से बेहद दिलचस्पी थी, इसलिए मैंने भी उसके लिए केशवदाम को ट्यूटर लगा लिया था। यह सब तो आजकल भी

“जैसे ?” हमने पूछा ।

प्रवीनराय ने बताया—“एक दिन मैं एक कमल के फूल से खेल रही थी । केशव आए और कहने लगे—

रत्नाकर लालित सदा, परमानन्दहि लीन

अमल कमल कमनीय कर, रमा कि राय प्रवीन ।

तात्पर्य यह कि उन्होंने मेरी तुलना लक्ष्मी से कर डाली । सुनकर मुझे हँसी आ गई । पर इस हँसी का अर्थ केशव कुछ और समझे । जनका होसला और बढ़ गया । एक दिन वह बोले—

वृषभ-वाहिनी अंग ढरि वामुकि सतत प्रवीन ।

सिव संग सोहे सर्वदा, शिवा कि राय प्रवीन ?”

हमने हँसकर कहा—“केशव माने नहीं । आपको उन्होंने बेल पर बैठा ही दिया !”

प्रवीन ने कहा—“कवियों के साथ खतरा तो रहता ही है । ये हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते लोगों को गधे पर भी बैठा दिया करते हैं । इनमे दोस्ती भी बुरी, दुश्मनी भी बुरी । पर मैं क्या करती ? साधारण थी ।”

प्रवीनराय ने आगे कहा—“केशवदास मुझे मानवी से देवी बनाने में जुट गए थे । कभी कहते—‘प्रवीने, तुम साक्षात् सरस्वती हो ।’ कभी कहते—‘स्वयं रति हो ।’ अपनी प्रशंसा आप जानिए सभी को अच्छी लगती है । पर कभी-कभी तो उनकी बेनुकी बातों से मैं बुरी तरह खीज भी जाती थी । मैंने तय किया कि इन हजरत के सामने आगे से कभी श्रृंगार करके नहीं आऊँगी । मैं आभूषण उतारकर मटा गादे बेस में उनसे मिलने लगी । दो-चार दिन तो वह घुपघाप देगले रहे । मगर एक दिन बोले :

अदपि मुद्रानि मुपच्छन्ती मुक्कन मरम मुवृत्त ।

भूषण विनु न विराजई वरिना वरिना मिल ॥”

हमने हँसकर कहा—“मगर यह कि केशव बुरी तरह आपसे पीछे पड़े थे ?”

हलो-हलो

३३

प्रवीनराय बोलीं—“ऐसी बात नहीं, पंडित बड़ा घाघ यानी ‘पॉली-टिशियन’ था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि ‘बॉस’ की प्रेयसी है, इसलिए इसे पटाकर रखी। इसी वजह से वह हमारी ‘बटरिंग’ किया करता था। हमें कविताएं लिखकर देता था। अकबर के दरबार से बीरबल की माफत उसी ने हमें वापस बुलाया था।”

हमने कहा—“जो भी हो, आपकी बातों से यह तो सिद्ध हो ही

गए होंगे। यह 'सन' शब्द अंग्रेजी का है, जिसका अर्थ बेटा होता है।”

“क्या मतलब ?” हमने आश्चर्य से पूछा।

तो प्रवीनराय ने हमें उस दोहे का अर्थ बताया—

“केशवदास के बेटे ने ऐसा किया था जैसा कोई दुश्मन भी नहीं करता। (वह यह कि) चन्द्रमुखी भूगनयनियां (जिसे मुन-मुनकर) तोबा (घावा) करके (भाग) जाती थीं।”

दोहे का यह निराला अर्थ सुनकर हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। हमने प्रवीनराय से पूछा—“केशव के बेटे ने ऐसा क्या किया था, जिससे सुन्दरियां तोबा करके भाग खड़ी होती थीं ?”

सुनकर प्रवीनराय बोलीं—“उस जमाने में भी कवियों और कविताओं के पीछे दीवानी होनेवाली सुन्दरियों की कमी नहीं थी। अपना 'पयूचर' खुद बनानेवाली हर लड़की का यह खयाल था कि अगर उसे भी कविता करनी आ जाए और आचार्य केशव की कृपा प्राप्त हो सके तो वह भी मेरी तरह राज-दरबार में सम्मानित हो सकती है, लेकिन केशव की पत्नी भी कम सावधान नहीं थी। वह अपने पति पर काफी कड़ी निगाह रखती थी। उसने अपने लड़के को सिखा रखा था। जब कभी कोई सुन्दरी घर आकर केशवदासजी के बारे में पूछती, तब वह चूल्हे में से जलती हुई लकड़ी निकालकर उसे मारने को दौड़ पड़ता था और पुकार उठता था—‘अम्मा-अम्मा, जल्दी आओ, वह यही है। देखो, भाग न जाए।’

हमने कहा—“आपने घटना तो मजेदार बताई, मगर बताइए कि केशवदाम के जमाने में अंग्रेजी कहां से आ गई ?”

प्रवीनराय ने उत्तर दिया—“अंग्रेजी तो महाशयजी हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के आने से पहले ही आ गई थी। इसलिए तो वह उनके जाने के बाद भी नहीं जा रही। केशवदास के परिवार के लोग ही नहीं, उनके नौकर-चाकर भी अंग्रेजी पढ़े हुए थे। उन्होंने मुझे छंद, अलंकार ही नहीं, अंग्रेजी भी पढ़ाई थी। वह खुद अंग्रेजी के मुकाबले

हलो-हलो

३५

में हिन्दी को अत्यन्त निकृष्ट भाषा मानते थे । क्या आपने उनका यह दर्द-भरा दोहा नहीं पढ़ा :

भाषा बोलि न जानई जिनके कुल को दास ।

भाषा कवि भो मन्दमति, तिहि कुल केशवदास ।

उनके कहने का मतलब यह था कि जिनके नौकर भी हिन्दी बोलना नहीं जानते, उसी भाषा (हिन्दी) में मतिमंद केशवदास की अपनी कवित

निकलवा लूंगा। यदि आप किसी को वहां भेजकर यह खुदाई करा सकें तो इससे साहित्य का भी भला होगा और कवि को प्रेत-योनि से भी छुट्टी मिल जाएगी, नहीं तो....!”

“नहीं तो क्या?”

प्रवीनराय ने अत्यन्त गम्भीरता से कहा—“नहीं तो केशवदास का प्रेत एक दिन मुझसे कह रहा था कि वह हिन्दी के किसी समालोचक को चैन से नहीं बैठने देगा। उनकी समालोचना-शैली को वैसा ही कठिन काव्य का प्रेत बना डालेगा, जैसा कि वे लोग उसकी कविता को कहा करते हैं।

अरे हां, सुनिए। वीररस के कवि भूपण की भाभी ने एक दिन मुझसे कहा था कि वह भी किसी दिन आपसे फोन पर बातें करना चाहती हैं।”

सुकवि बिहारी-
लालजी की सतसई के
सम्बन्ध में एक नए
तथ्य का पता लगा है।
जो यह कि उसके दोहे
सुकवि के अपने नहीं,

बिहारी के ससुर बोले

कभी आपने टेलीफोन की घंटी का विदलेपन किया है ? नहीं, तो मुनिए—जब कभी मवेरे-मवेरे फोन की घंटी एक-दो बार बजकर एकाएक रुक जाए तो सम्भव सीजिए कि उधर फोन पर कहीं पति-पत्नी का झगड़ा हो रहा है और श्रीमतीजी नहीं चाहती कि उनके पति मवेरे-मवेरे फोन पर बहकर हिंसा से बर्तन करने में उसलभ जाएं। यदि टीका-टीका दोस्तों में बड़े जोर से घंटी लगातार बज उठे, तो मानिए कि पोलिसार्थ प्रोड्यूसर है और या तो उन्होंने कहीं दिनों से सेव नहीं बनवाई या फिर उन्हें लडा-जडा बढ़ाने का मोह है। अगर दूसरे में लडाईं बार-बार के आगवाग फोन आए तो मानना चाहिए कि घर में देवीजी में कृपा की है और शाम वा रातगी विनोद में जाने के लिए वेतनों डिस्टर्ब मजान की बात होगी। इसी प्रकार रात को लडाईं के बाद अलग फोन आए, तो उनके हमला बढ़ाने लिए वे उठाना चाहिए, क्योंकि पता नहीं, क्या फोन नर्स में आया हो या स्वर्ग में ? यह ऐसा समय है कि जब दूर और समुद्र दोनों ही टेलीफोन की सहायता पर संचित रहते हैं। इसी लिए जब रात जब दग बजने में दग दिखे वा हवात फोन की घंटी बजी, तब उसके साथ ही हमारे हृदय की धड़कन में आन-खोश सु दबने लगी।

अब हमें यह भी समझना होगा कि यह सब क्यों हो रहा है। इसके पीछे का कारण क्या है। हमें यह भी समझना होगा कि यह सब क्यों हो रहा है। इसके पीछे का कारण क्या है।

‘‘ਕਰ ਕੁੰਦਾ ਸੇਵਾ ਕੀ’’, ਕਹਿ ਆਪਣਾ ਅਫ਼ਸਰ ਹੱਥ ਲੈਂਦੀ ਤਾਂ

ਉਹ :

हमने इस बेतकल्लुफी-भरे स्वर को एकाएक पहचाना नहीं । हम सोच ही रहे थे कि पुनः सुनाई दिया :

“अरे, हमें नायनें पहचानें ? हम मुकट चीवे है, बिहारी सतसई वारे के ससुर ।”

“मुकट चीवे ! ” आश्चर्य से हमारे मुह से निकला ।

जगमगातिपर जानिए,
रांड बुदेने मान ।
तरनाई घाई गुगद,
मधुरा घागि मगुरान ।”

चीवेजी ने उत्तर दिया—“ठीक है । हमने उन्हें घर-जमाई रख लिये हैं । हमने सोची कि हमारी छोरी को हू कविताई को दीक है और छोराहू कवि-कुल को है । जोरी ठीक रहेगी । हमने अपनी बेटी ते पूछी के लाली छोरा तोय पसन्द है तो बानें हमें एक परचा पे लिख कें दयो :

क्यों न जुरे जोरी जुगल,
क्यों न सनेह गंभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा,
वे हलघर के वीर ।

ये दोहा वास्तव में हमारी छोरी को कथ्यो है, बिहारी नें जाके मुह में चिरजीवों शब्द जोड़कर अपना बनाय लियो है ।”

हमने शंका की—“मगर चीवेजी, आपकी पुत्री के कवियित्री होने का प्रमाण क्या है ?”

“प्रमाण ! कोऊ खोजवे वारो होनी चाइए । प्रमाण तो पग-पग पर मिल जाइंगे ।”

“कैसे ?”

“हमारी पुत्री,” चीवेजी बोले, “अलि नाम से कविता कियो करती ही । बाने बहुतेरे दोहन में अपनी छाप छोड़ी है ।”

“जैसे ?” हमने पूछा ।

तो चीवेजी ने बताया—“सुनो, बिहारीलाल मिर्जा राजा जय-सिंह के पास जो दोहा लेके गयो हो और जाके कारन बाये ऐसी ऊंची पदवी मिली बु हमारी छोरी को ही लिखयो भयो हो :

नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल,
‘मली’ बली ही सौ बिघ्यों, भागे कवन हवाल ?”

“अच्छा । यह बात है, चीवेजी । कोई और प्रमाण दीजिए ।”

“एक नहीं मल्लेन उदाहरण लेऊ ।” कहते हुए चीवेजी ने सुनाया :

खेलन सिखए ‘अलि’ भले, चतुर महेरी-मार ।

कानन-चारी नैन मृग, नागर-नरनु-सिकार ॥

इतक तें संतोष न होय तो और हू लेऊ :

सम्पत्ति दान करी । पर मेरी स्वाभिमानी बेटी ने जि दोहा लिखके वो दानपत्र वापस कर दयो :

तो अनेक भोगुन भरिहि, चाहे याहि बुलाइ ।

जो पति संपत्तिहू बिना जडुपति राखे जाइ ॥”

हमने पूछा—“चौबेजी, यदि सारे दोहे आपकी सुपुत्री ही लिख दिया करती थी, तो बिहारीलालजी क्या किया करते थे ?”

मुनकर चौबेजी बोले—“वे ? तीन टेम भांग छानते, दिनभर बगीची में पड़े रहते, दंड पेलते, कबूतर उड़ाते, लट्ठू-फिरकनी फिराते और अंधेरी रात में चौबेन के छोरान के संग आंखमिचौनी खेलो करते हे । तुमने कबूतरवाजी पे उनको ये दोहा पढ़ो ही होयगो :

पट पाखें, भक्त कांकरे,

सपर परई संग ।

मुखी परंवा जगत में,

एक तुही बिहंग ॥”

“तो महाराज, उनका सर्चा कैसे चलता था ?”

“हमने बताया न कि बिहारीलाल को घर-जमाई मारयो हो । बाको मिंगरो सर्चा हमें ही उठावनो पड़तो हो । कैंतो हम कों बकुचा खोलनो पड़तो, कैं छोरी कों दोहा लिग के देने पड़ते । वो मेरो मार तो जनम वो गवा-उड़ावा हो । अच्छो पहरतो, अच्छो सानो और उनटो हमरे ही मतरानो । बहोन दिना तो हमने सही पर एक दिना गुस्मा घाय गई और बिहारीलाल को मारि दियो । बाही समय बाने हम पे जि दोहा लिख मारयो :

भावन जान न जानियनु तेजहि तत्रि मियरान ।

चरहि-अबाईलौ घट्यो, सरोजुम दिन मानु ॥”

मुनकर हमें हँसी आयी । हम बोले—“चौबेजी महाराज, क्या बिहारीलालजी ने जन्म-भर कोई घंघा नहीं किया ?”

फोन पर उधर ने आवाज आयी—“हाँ, कुछ एक दिना बाने रंग-रेझी को बान किया हो । माझी-दुपट्टा रंगनी बां बहोन अच्छो बाने

हलो-हलो

४३

हो, कौनसे रंगों मिलके कौनसी रंग बने है याकी बाय अच्छी पहचान
ही । सतसई को पहलो दोहा तुमने पढ़ो ही होयगो :

जा तन की भाई परै, श्याम हरित दुति होय ।

और हूं सुनो :

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोत,
फिरत रसोई के डगर जगर मगर दुति होत ।

पढ़कर पंसारी ने अपने करम ठोक लिए और बिहारीलाल को बिहारी कर दियो ।”

हमने पूछा—“चतुर्वेदीजी, तब तो आपकी पुत्री का जीवन बड़ा असन्तोष में ही रहा होगा ?”

“हां भैया, सांची कहो । बु बिहारीलाल की आदतन तें बड़ी परेगान ही । रात-दिन हम तें भीक्यों करे ही और हम चाय धीरज बंधावते रहते—

दीरघ सांस न लेहि दुख,
सुख साईं हि न भूल ।
दई-दई क्यों करत है,
दई-दई सु कबूल ॥”

मिश्रबन्धुओं में से एक—श्री श्याम-
बिहारीजी उस दिन फोन पर आकर
महाकवि देव की वकालत करने लगे ।
उन्होंने यह भी बताया कि 'मिश्रबन्धु-
विनोद' का एक झुठा नया संस्करण

देव बनाम बिहारी : मिश्रबन्धु उवाच

यात कल प्रातः की है। हम संध्या-चन्दन के उपरान्त गमले में लगे गुड़हल के मुरझाते हुए फूल की ओर देख रहे थे कि गुड्डी ने कहा—“आपका फोन है।”

हमने रिसीवर उठाते हुए पूछा—“कौन साहब?”

उत्तर मिला—“श्यामबिहारी मिश्र।”

पूछा—“कहां से बोल रहे हैं?”

जवाब आया—“परलोक से।”

“परलोक से! श्यामबिहारी मिश्र?” हमारी समझ में नहीं आया।

“मैं मिश्रबन्धुओं में से एक हूं। पहचाना?”

“अरे, आप हैं! नमस्कार, मिश्रजी! बड़ी कृपा की।”

“हां, हमने सोचा, जब आपकी तरफ से कृपा में कोताही हो रही है, तो अपनी तरफ से तो नहीं होनी चाहिए।”

“नहीं, महाराज! ऐसी क्या बात है। आप तो बड़े हैं।”

“तभी तो आप हमें भूल गए,” मिश्रजी ने कहा—“जिते देखो वह शुक्लजी की चर्चा करता नजर आता है। भाई, हमारा ‘मिश्र बन्धु-विनोद’ न होता तो शुक्लजी का इतिहास कैसे लिखा जाता? हिन्दी समालोचना का शुभारम्भ हमारे ‘हिन्दी नवरत्न’ से ही तो हुआ है!”

हमने कहा—“मिश्रजी, आप सही कह रहे हैं। पर महाराज, परलोक की टेलीफोन डायरेक्टरी तो हमारे पास है नहीं कि हम

हलो-हलो

४७

अपनी तरफ से नम्बर मिलाकर क्रमबद्ध साहित्यकारों से बातें कर सकें। अब तो आप लोगों की सत् कृपा पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है।”

“हां, यही सोचकर हम चले आए। नहीं तो मिथवन्धुओं का स्वाभिमानी स्वभाव आप जानते ही हैं।”

“बड़ी कृपा की!” हमने विनत भाव से कहा।

“

सरकारी खरीद में खपने वाली किताबें।”

हमने कहा—“महाराज, यह काम तो आपके महाकवि ने भी किया था।”

“क्या?” रोष-भरे स्वर में मिथजी ने पूछा।

“यही कि जब जिस राजा के पास गए, उसी के नाम से, जैसी उसकी रुचि हुई आगे-पीछे जोड़कर अपनी पुरानी पुस्तक को नई बनाकर उसके नाम से भेंट कर दी और अपने पैसे खरे किए। आज-कल के प्रकाशक भी देव मनोवृत्ति के हैं, जहां जो भी सपत होती है, उल्टा-सीधा छाप डालते हैं। देव की तरह उन्हें भी अपने टकों से काम है।”

मिथजी बोले—“मगर ये लोग अपनी गलती को गलती तो नहीं मानते। पदचाताप की भावना इनमें जरा भी नहीं है। मगर देव में ऐसा नहीं था। उन्होंने अपने मन को ऐसे कार्यों के लिए खुलकर धिक्कारा है :

एगो पु हो जान तो कि जै है तू विप के संग,
ऐरे मन, मेरे, तेरे हाथ-पाव तोरणों।
घातु सौ हो बत नरनाहन की नहीं गुनी,
प्रेम सौ निहोरि, हेरि बदन निहोली।
खन न देनो बिन खपन छपन करि,
बाबु बित्तवनीनि मारि मूढ़ मोरनी।
भारो प्रेम-पापर नगारो दं गरे सों बाधि—
राधाहर-विरद के कारिख में बोलो॥”

हमने कहा—“मिथजी, यह तो देव कवि की बुझाये की उक्ति है। वन के उतार पर तो सायद आज के प्रकाशक भी ऐसा अनुभव करने लगे। वहीं वन पर तो देव कवि ने ‘घण्ट्याम’ के बहाने और विभिन्न जानियों की नारियों का चूड़चुड़ाना परिष्कृत दिया है।”

रामचन्द्र गुरुजी ने हमें डांटा—“यह तुम नहीं बोल रहे, पं० रामचन्द्र गुरुजी बोल रहे हैं। देव की गमज के लिए, जिस राम-वृत्ति

की इच्छा है, वह धार्य-जमायी और नाजिबता के रंग में रंगे लोगों
के पास नहीं हो सकती। क्या समूचे हिन्दी राष्ट्र में देव बलि की
इतनी टक्कर का कोई छन्द है ! —

झीड़ी बिजोति बहुत उरि लालरी,
बन्दन बारे तु घाट न होकी।
हार लो मुदि मुमान लदन्द,

भी किसी को नहीं है ! साहित्य में मान और उसके मोचन पर सभी कवियों ने लिखा है, मगर देव का वर्णन इस सब में अनूट है । उनकी नायिका एक शब्द कहे बिना ही प्रतीकों से अपना मान प्रकट करती है और उसका पर्यवसान किस कलात्मकता से होता है यह जरा आज के कवियों को बताइएगा :

भोठन ते उठि, पोठि पै बैठि,
कंधान पै बैठि, लग्यो मुख-भोरन ।
अंग-सकोरन ते चढ़ि कोप,
लिलार बड़्यो, बड़ि भौह-मरोरन ।
अंक में लाय मयंकमुखी लई,
लाल की ओर चिते दुग-कोरनि ।
आसुनि बूढ़्यो, उसांस बड़्यो,
किषी मान कढैपौ हिलकी कीहिलोरन ।”

हमारे मुंह से निकला, “वाह-वाह ! क्या सुन्दर छन्द सुनाया है, मिथजी !”

मिथजी उत्साहित होकर बोले, “कोई एक थोड़े ही है । ऐसे सैकड़ों छन्द हैं । इनका एक सुन्दर संकलन छपना चाहिए । कोई प्रकाशक तैयार हो तो हम यहां से पांडुलिपि तैयार करके भेज दें ।”

हमने कहा, “पूछकर बताऊंगा, मिथजी ! वैसे आजकल आप कर क्या रहे हैं ?”

“मिश्रबन्धु-विनोद का नवीनतम खण्ड तैयार कर रहे हैं ।”

“उसमें क्या होगा ?”

मिथजी बोले, “उसमें हिन्दी के उन वर्तमान साहित्यकारों की सूची और पत्र होंगे, जिनकी रचनाएं सम्पादकों की टोकरी में पड़ी रह जाती हैं और छपने नहीं पातीं । ऐसे कवियों का विस्तृत परिचय होगा, जो केवल कवि-सम्मेलनों में भास्था रखते हैं, पत्र-पत्रिकाओं में नहीं । ऐसी संस्थाओं के कार्यों का विवरण होगा, जिनके उद्देश्य तो

हलो-हलो

५१

ऊँचे होते हैं, मगर कार्य नगण्य या बिल्कुल नहीं। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं का भी जिक्र होगा कि जिनका नाम रजिस्ट्रेशन ऑफिस और कागज का कोटा देने वाले कार्यालय में तो है मगर बाजार में जिनकी प्रति दुर्लभ है।”

हमने बीच में टोककर पूछा, “इससे क्या लाभ होगा, मिश्रजी ?”

महाशिव भूषण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बड़े निटस्ने थे । न काम करने थे, न काय । लाली-पीली धौंस दिगाया करने थे घर में ।

एक दिन सखी को, लेकर घर में भाभी से झगड़ा हो गया । उन्होंने बहि को मिरक दिया, 'बड़ा नमक कमाकर लाने हो न ?' और भूषण असीनी सखी बुढ़ापे लाने की बजाय, तपकर घर

झगड़ा नमक पर नहीं, मिर्च पर

“जी, मैं भूपण की भाभी बोल रही हूँ।” फोन आया।

“नमस्ते जी, मैं आपके फोन का ही इन्तज़ार कर रहा था। कहिए, कुशल से तो हैं न?”

“हां जी, ठीक ही है। पर एक अपवाद मुझे खाए जा रहा है।”

“क्या?” हमने उत्सुकता से पूछा।

कुछ रूआंसी-सी आवाज़ में उत्तर मिला, “यही कि मैंने मांगने पर भी लालाजी को नमक नहीं दिया था। भला, नमक-जैसी छोटी-सी चीज़ पर मैं उनका दिल दुखाती?”

हमने सहानुभूति-भरे स्वर में पूछा, “हां, भाभीजी, सोचते तो हम भी यही थे। नमक-सत्याग्रह तो गांधीजी के ज़माने की बात है। औरंगज़ेब के शासन में सहिष्णुता की भले कमी रही हो, नमक से लेकर ज़हर तक का उन दिनों कोई तोड़ा न था। कृपया बताएं कि बात वास्तव में क्या थी?”

एक लम्बी सांस भरकर भाभीजी बोलीं, “भूपण भाई बचपन से ही बड़े जिद्दी और क्रोधी स्वभाव के थे। मेरे सिवा घर में उनका सबसे भगड़ा रहता था। बड़ा तेज मिज़ाज था उनका। वह किसी से साधारण बातचीत करते और कोई दूर से सुन लेता तो यही समझता था कि किसी से भगड़ा हो रहा है। मैं उन्हें बड़ा समझाती थी—‘भैया, धीरे बोला करो, नव के चला करो। ज़माना बड़ा खराब है। औरंगज़ेब का शासन है। इतनी तेज़ी ठीक नहीं, तो जानते हो क्या कहते थे?’”

हमारे पूछने पर भाभीजी ने बताया, “कहते थे, हम समुद्रे का

हलो-हलो

५५

दिया खाते हैं जो किसी से दबें ?”

टेलीफोन में घड़-घड़ की आवाजें आने लगीं । हमने विनोद में भाभीजी से कहा, “देखिए, टेलीफोन भी भूषण का नाम लेते ही वीर-रस की कविता पढ़ने लगा !”

सुनकर भाभीजी को हँसी आ गई । बोलीं, “पतिराम भाई का भी यही हाल था । वह हरदम परुषा वृत्ति अस्तिथार किए रहते थे ।

हैं जो बाजार से कभी मिठाई का दोना लेकर नहीं, हमेशा मिर्चों का पुड़ा लेकर लौटते थे। कभी सौगात भी लाते तो दही-बड़ों की, जिनमें इतनी मिर्चें पड़ी होतीं कि देखकर ही मेरी आंखों से पानी आने लगता। उनके पसन्द की चीज थी जलजीरा। इतना तेज कि छूते ही जीभ जलने लगे।”

थोड़ी देर रुककर भाभी ने आगे कहा, “ज्यादा मिर्चें साने से उनका शरीर सूखकर अमचूर हो गया था। गोरा-चिट्टा रंग झुलस कर तवे—जैसा हो गया था। लड़की वाले आते और देरा-देराकर उनके ढंग लौट जाते। लौट क्या जाते, वह स्वयं उन्हें विदका देते थे। यह धीरत को धीरत मानते ही नहीं थे। हर स्त्री उनके लिए घंडी थी। तुमने पढ़ा नहीं, उन्होंने क्या लिखा है।

मोटी भई घंडी,
बिन मोटी के बवाई सोत।
मोटी भई सपति,
सबता के घराने की।

अब भाग ही बगाइए, मक्षी को इस प्रकार मोटी और धीरत को यो मोटी कहने वाले को कोई अपनी सड़की घ्याह सवता था? और जीवन में बिना नारी के आए कोई आदमी सहज या सपुर हो सवता है? मैं उनके उद्धरण को घर में एक बहू लाकर दूर करना चाहती थी, मगर वह विवाह के नाम से वैसे ही भागने थे जैसे पाकिस्तान के आज़ के मदर अयूब खाने देश में प्रजानांन के नाम से विदबने हैं!”

“दर आर्मीरी, आद यह कैसे कहती है?” हमने पूछा, “भूषण को मोन्दर-बोष मो था। उन्होंने बंगा मुन्दर वर्णन दिया है—

कर्मिदा बिर्पर बिनि
आर्मीरा कर्मिदा पर,
कर्मिदा कर्मिदा,
मुनकर्मिदा मुनक की।”

भाभीजी ने बीच में ही हमें टोकते हुए कहा, “इसे आप सौन्दर्य-
बोध कहते हैं ? यह तो संकटग्रस्त ललनाओं का उपहास उड़ाना हुआ ।
असहाय की सहायता की जाती है या उसकी खिल्ली उड़ाई जाती
है ? कोई भला आदमी कभी विपत्ति में फंसी हुई नारियों के बारे में
इस तरह लिख सकता है :

सीबी कहे सी

फुरी आ गई। उन्होंने औरंगजेब की आंखों में भी मिचें भोंक दीं। उसे खरी-खोटी सुनाकर वह सीधे मिचों के देश में छत्रपति शिवाजी के पास पहुंचे, जो भूषण की प्रेरणा से जन्मभर पातशाही को मिचें लगाते रहे। जरा सोचिए, अगर आपसे उनका झगड़ा न हुआ होता, तो हिन्दी को वीर-रस का एकमात्र कवि उपलब्ध होता ?”

ठंडी सांस भरकर भाभी ने कहा, “हिन्दी को तो वीर-रस का कवि मिल गया, मगर मुझे तो बदले में मिचें ही मिलीं। भूषण ने जानते हो इसका मुझे क्या उपहार दिया ? उसने एक हाथी पर मिचें लदवाकर मुझे भेजी थीं :

जिन जग जीवन पाय,
मिचें को स्वाद न जान्यो।
विरथा जीवन गयो,
न मुख सी कारो घान्यो।
नहिं भस्म मिचें वह नर नहीं,
कवि भूषण उर घानिए।
वह सुकवि नहीं है, कुकवि है,
जिहि मुख मिचें न जानिए।”

तीन सप्ताह पूर्व हम
रहीम खानखाना की कब्र
पर अपना सेरा लिखकर
इसलिए रख आए थे कि
उनकी पवित्र स्तुति उसे देख

रहीम की कहानी : उनके मजार की जबानी

लेखक को निडर होना चाहिए । हम भी किसी से डरते नहीं । पर उस दिन हमारे छक्के छूट गए । फोन सायं-सायं, सूं-सूं कर रहा था । उसमें से कभी किलकारी निकलती थी तो कभी हू-हू ! लगता था जैसे कोई वृक्ष टूटकर गिर रहा हो और कभी-कभी पत्थरों के टूटकर चटखने की-सी आवाज भी सुनाई पड़ जाती थी । हम अभी तक फोन पर मधुर कंठों को ही सुनने के आदी थे । पर आज जो अट्टहास सुना तो घिग्घी बँध गई । पंखे के नीचे बैठे-बैठे भी हमें पसीना आ गया था । धबकाकर हमने फोन बन्द कर दिया । न जाने कौन बला है ?

मगर घंटो फिर घड़ियाल की तरह घनघना उठी । सुनाई दिया, “डर गए !”

स्वर इतना भारी और भैरव था कि सहसा हमसे जवाब देते न बना । कुछ सेकण्ड के बाद हमने साहस बटोरकर पूछा, “कौन हैं आप ?”

उत्तर में पुनः अट्टहास ध्वनित हुआ । एक बार तो हमें लगा कि रिसीवर हाथ से छूटकर अपनी इहलीला समाप्त करने पर उतारू है । पर हमने उसे मजबूती से पकड़े ही रखा । दूसरे हाथ से कुर्सी का हत्या मजबूती से पकड़ लिया । फोन पर कोई कह रहा था, “जनाब, मैं आदमी नहीं हूँ ।”

वह तो हम पहले ही समझ गए थे कि आज हमारा पाला आदमी पड़ा है । अवश्य ही यह कोई भूत या जिन्न है । टेलीफोन माहित्यकारों जैसी बातचीत करने का सिलसिला शुरू

हलो-हलो

६१

किया। पूछा, “तब आप कौन हैं? क्या चाहते हैं?”

ऐसा लगता है कि हमें ही नहीं, एक्सचेंज में काम करने वाली लड़कियों को भी इस वार्तालाप से कैपकैपी आ गई थी। कारण, एका-एक फोन कट गया और बाद में जब पुनः सिलसिला जुड़ा तो लाइन पर लड़की नहीं, कोई सरदारजी बैठे थे।

शायद सरदारजी के

कहाँ से घोंस रहे हैं ? कौसे घोंस रहे हैं ? फोन आपके पास आया है या आप गुप्त फोन पर सगरीफ से आए हैं ? ईंट, चूने और पत्थरों को तो घोंसते कभी किसी ने गुना नहीं ? आदमी का 'सोल्ममेन' (प्रवक्ता) तो आदमी ही होता है, पत्थर नहीं होता !”

फोन पर पुनः घट्टहाग गूँज उठा, मगर इस बार उसमें पहले-जैसी विकटता नहीं थी, उपहास का पुट ही अधिक था। सुनाई पड़ा, “घरे मियां, जब दीयारों के कान हो सकते हैं तो मजारों के मुँह नहीं हो सकता ? मालूम पड़ता है कि तुमने अभी दुनिया को ठीक से देखा-परखा नहीं। आज आदमी पत्थर बन गया है और पत्थर इन्सान। जमाने ने आज आदमी की जुवान बन्द कर दी है और पत्थर चहकने लगे हैं। फिर मैं ? जनाव, मेरा जिस्म ही चूने-पत्थर का बना है। मेरे अन्दर जो इन्सानियत की रूह बसी हुई है, उसे आज के इन्सान जानकर भी नहीं जान पाएंगे।”

सुनकर हम सन्नाटे में आ गए। कुछ कहने ही वाले थे कि उधर से फिर सुनाई दिया, “पत्थर के भी दिल होता है, भाईजान ! वह आदमी के कलेजे की तरह नहीं है—बेवफा और खुदगर्ज ! आपने इतना बड़ा मजमून लिखकर खानखाना की कन्न पर रखा। मैं पूछता हूँ कि क्या खानखाना के साथ उनकी जिन्दगी में या उनके गुजरने के बाद इन्साफ हुआ ? क्या ऐसे शेरनर, क्या ऐसे नेक इन्सान और इतने ऊँचे शायर का यही हस होना चाहिए था ?”

हमने कहा—“दुरुस्त फरमाते हैं, मजार साहब !”

“क्या दुरुस्त फरमाते हैं ?” इतने जोर से कहा गया कि हम तो अपने को जैसे-तैसे संभाल गए, मगर एक्सचेंज पर बैठे हुए सरदारजी की चीख निकल गई। सुनाई पड़ा—

“वे महावीरा, तू फड़ एस चोगे नूं, मैं जरा चा-चू पी आंवां।”

उधर मजार साहब फरमा रहे थे, “बेव फाई की भी हद होती है। जिस सल्तनत की खातिर रहीम ने खुद को गारत कर दिया उसी ने उसे गद्दार करार दिया। मजहब के जिन ऊँचे उमूलों पर

हलो-हलो

६३

वह सब कुछ खोकर भी टिका रहा, उसी के ठेकेदारों ने उससे निगाह चुरा ली। शियाओं ने उसे शिया नहीं जाना। सुन्नियों ने उसे सुन्नी नहीं माना। मुसलमान उसे हिन्दू कहते रहे और हिन्दू उसे मुसलमान। और अदब (साहित्य) की दुनिया वाले तो उनसे भी बढ़कर एहसान-करामोश निकले। जिसने अपनी सारी दौलत शायरों और कवियों की छोटी-छोटी

“क्या कहलवाया है ?” हमने जरा उतावली से पूछा ।

“कहलवाया है,” मजार साहब बताने लगे, “मजमून के लिखने वाले से कहना कि साहित्य और राजनीति दोनों रकावों में पैर रचना ठीक नहीं । अगर आदमी समर्थ हो तो दो औरतों से तो शादी करके एक घड़ी सुख से रह भी सकता है, मगर साहित्य और राजनीति से एक साथ शादी करके न कोई कभी सुखी रहा है और न रह सकता है । एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं, मगर ये दोनों सोतें नहीं रह सकतीं । आजकल के हिन्दी और उर्दू के लेखक जो दोहरा खेल खेल रहे हैं, वह बड़ा खतरनाक है । इससे लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी । साहित्यकार का राज्याश्रय से क्या ताल्लुक ? राजनीति कभी साहित्य को आश्रय नहीं देती, स्वयं के लिए साहित्य के पट की ओट लेती है और काम निकलने के बाद उसी को जला देती है :

जेहि अंचल दीपक दुर्यो, हन्यो सो ताही गात ।

‘रहिमन’ असमय के परे, भिन्न शत्रु ह्यो जात ॥”

मजार साहब कहते गए, “खानखाना से इस वारे में मेरी अकसर बातें होती रहती हैं । उनका कहना है कि राजनीति तो बेर के वृक्ष के समान है और साहित्य कदली-पत्र के समान । इन दोनों का साथ भला कभी हुआ है ?

कहु ‘रहिम’ कंसे निबहि केर-बेर को संग ।

वे झोलत रस आपने, इनके फाटत अंग ॥

एक बार साहित्यकार अगर राजनीति के घेरे में आ गया तो उसे जीते-जी मरा ही समाधि । साहित्यकार सदैव से निर्वल रहा है और राजनीति हमेशा से सबल । खानखाना ने इसी पर एक दोहा कहा है :

कंसे निबहें निबल जन, जरि सबलन सों बंर ।

। में बेचारे शायर यानी लेखक की हालत मछली जैंगी हो जाती

२५१-तड़फड़ाकर प्राण छोड़ता है :

खरच बढ़्यो, उद्यम घट्यो, नृपति कठिन मन कीन ।

कहु 'रहिमन' कैसें जिए, चोरे जल की मीन ॥

इसीलिए खानखाना का कहना है कि राजनीति पहले तो साहित्यकार का पूरा रस निचोड़ लेती है और जब दीन होकर वह अपने जीवन के लिए बाढ़ में धरज करता है तो उसकी गरज को नहीं सुनती :

भरख-भरख

में भी कुछ चाह होती है और चाह की राह आप जानते हैं, राजनीति की तिजोरी में ही बन्द है।”

मजार साहब ने उत्तर दिया, “मगर खानखाना आपकी बात में महमन नहीं हो सकते। उन्होंने तो एक दिन मुझसे कहा था :

‘चाह गई, बिना घटी, मनुषा बेपरवाह।

जिनको बछ ना चाहिए, वे साहब के चाह ॥”

“मुनिया, मजार साहब ! रहीमजी ने कोई और भी सन्देशा दिया है क्या ?” हमने पूछा।

“हां, दिया है !” जवाब मिला। “उन्होंने कहा, उस मजबून को माया न करें। रहीम और रहिमन एक ही हैं। रहिमन मेरी बीबी का नाम था और न पहेंती का। दोहा, बरख, सोरठा, पद गर मेरे ही निम्ने हुए हैं, गंग बगेरह के नहीं। इस तरह के लोग के छाने में मामला गलतफहमी बढ़ेगी। और...”

“और क्या, मजार साहब ?”

“और यह कि आज तक खानखाना ने अपने पाग अपने बाँवें किसी सेलक को खानी हाथ नहीं जाने दिया। आपके लिए भी उन्होंने कुछ देने का कहा है।”

“क्या ?” हमने उत्सुकता से पूछा।

हमें खोजकर मुनाई पड़ा, ‘वन रात को बारह बजे खानखाना के मजार पर आइए। दाहिने हाथ बाँवें दरवाजे की बायीं ओर जाने सड़क में आकर दो एक हाड़ी मिलेंगी। उसे उठा लेना और बिना पीछे की ओर देखे खराब मेहर खेने जाना। रखने में उसे खोजना नहीं। घर आने पर दाहिने खानी उबरन मिल जाएगी।”

इसने करने कि हम कुछ बचाव दें, देखीखत तस्बेख पर हाड़ी का नाम सुनते ही दहशत मच गई। पूछ कर रहा था कि हाड़ी मेरी है और दुकान बंद रहा था कि मैं उसे लेने जाऊंगा। दूसरे मरदानगी और अन्तर्गत में बहाना सुनते ही नहीं, हाथपाई भी लेने खानी की दुकान दुकान आने में अपना खोज बंद रहा।



देवकीनन्दन खत्री के नये उपन्यास का पता चला

फोन पर आवाज आयी, "मैं देवकीनन्दन खत्री बोन रहा हूँ नमस्कार !"

"नमस्कार ! नमस्कार ! ! अरे, आप हैं ! ! ! अहोभाग्य !" हमने हर्षातिरेक से कहा ।

"हा, हमने सोचा," खत्रीजी कहने लगे, "आजकल बड़े-बड़े साहित्यकारों का 'इण्टरव्यू' हो रहा है, जरा हम भी कुछ बात करें।"

"बड़ी कृपा की, खत्रीजी !"

"कृपा क्या की, कुछ हमारा काम भी आपसे था।"

"आज्ञा कीजिए !" हमने कहा ।

"बात कुछ खारा नहीं। हमारी एक पुस्तक अप्रकाशित रह गई है, उसी के सम्बन्ध में आपको कुछ बताना है। कर सकें तो कुछ अवश्य कीजिए।"

"कौन-सी पुस्तक ? आपके ज्ञात जीवन-वृत्त और साहित्य के शोध-ग्रंथों में तो ऐसी कोई चर्चा सुनी नहीं !"

"अगर वहां उसका जिक्र होता तो मैं आपको इस समय कष्ट क्यों देता ?" खत्रीजी कहने लगे, "उसका रहस्य मेरे मित्रा कोई दूमरा जानता ही नहीं ! वह तो 'भूतनाथ' से भी मौलिक है और 'चन्द्रकान्ता सन्नति' से भी अनूठी है।"

हमने आश्चर्यचकित होकर कहा, "आप कहते हैं तो वह अवश्य ही ऐसी होगी। क्या नाम है उसका, बाबू साहब ?"

"वस, उसका नामकरण संस्कार ही रह गया था। इसलिए वह मेरे जीवन-बाल में प्रवास में नहीं आ सकी। वैसे मैंने उमकी प्रेम-बाँधी

हमो-हमो

तैयार कर ली थी और भूमिका भी सोच ली थी। उसका विषय अटपटा था। पर उसे छोड़िए, कथानक तो उसका ऐसा चौचका कि जो पढ़ता वह दंग रह जाता।"

"क्यों नहीं," हमने कहा, "हिन्दी में दो ही तरह के साहित्य हुए हैं—एक दंग करने वाले और दूसरे दंगा करने वाले। आपकी म तो सदैव से ही एका कोश में है।" "हो ना"

“मोह !” हमने गहरी सांस ली ।

खत्रीजी कह रहे थे — “कोई पत्थरन जिल्दों में वह छोटा और एक बार एक सड़ प्रकाशित होने दीजिए । उसके बाद हिन्दी की अन्य सारी पुस्तकें छपनी और बिकनी बन्द हो जाएंगी । उसमें ‘राम-शास्त्र’ से लेकर ‘कामशास्त्र’ तक की, दिल्ली से लेकर गांव-शास्त्र तक की, कराची के हलवे से लेकर बनारस की कचोड़ी तक, हाथी से लेकर चीटी तक और नर से लेकर बानर तक की दिलचस्प कहानी है । धर्म, इतिहास, राजनीति, गणित, विज्ञान, साहित्य और लोक-वार्ता तक सभी तत्त्व उसमें हैं ।”

“पर बाबू साहब, वह है वहाँ ?”

“वही बताने के लिए तो भाई, मैंने तुम्हें फोन किया है । कभी बनारस गए हो ?”

“जी हां, कई बार ।”

तभी फोन पर से आवाज आयी, “श्री मिन्ट्स मोबर प्लीज !” जैसे-तैसे उसे व्यापारिक संकेत करके हमने मना लिया कि भाई घड़ी देखना बन्द कर दे, बाद में समझ लेंगे । और वार्ता पुनः शुरू हो गई ।

“संकटमोचन हनुमानजी के दर्शन किए हैं ?”

“जी हां !”

“उसके मुख्य द्वार से प्रवेश करते समय लता-कुंज और पेड़-पौधे मिलते हैं ?”

“जी ।”

“तो सुनो,” खत्रीजी ने कहा, “दरवाजे से बीस कदम दूर एक पुराना पीपल का पेड़ है न ?”

“जी !”

“उसी पेड़ से कोई अस्सी हाथ पूरब में बिट्टी का एक उठा हुआ सा भूमिखण्ड है । उसके आस-पास पुरानी ईंटें और पत्थर के टुकड़े बिखरे हुए हैं । ध्यान आया ?”

“जी, रास्ते की दाहिनी तरफ या बायीं ओर ?”

हलो-हलो

७

"बायीं ओर ।"

"जी ! वही न जहा करोदे की एक सूखी-सी भाड़ी है ?"

"हां-हां, उससे सटा हुआ ही है वह चबूतरा । पहले पक्का बना हुआ था, अब वह टूट-फूट गया है । वही तुम चले जाना ।"

"जी, दिन में या रात में ।"

"यह काम दिन में सम्भव नहीं, रात में ही जाना पड़ेगा । साथ

“नहीं, बाबू साहब, मैं दगल पुरा-पुरा ध्यान रमूंगा।”

“तो ठीक है,” खत्रीजी बोले, “जब तुम इसकीम सीढ़ियाँ उतर चुकोगे तो तुम्हें एक पक्का दालान मिलेगा। दालान को पार करके तुम दाहिनी ओर मुड़ना। एक मुख्य बाटिका तुम्हारे स्वागत के लिए तैयार होगी।”

किंचित् रुककर खत्रीजी बोले, “मगर मेरे पास समय होता तो इस बाटिका की शोभा का वर्णन करना। पर तुम स्वयं रसज्ञ हो। जाकर सब कुछ अपनी आंखों से देख लोगे। उसके बीच में सप्त-धारा वाला एक संगमरमर का फव्वारा है। इसके शीतल जल की फुहार पड़ते ही तुम्हारी सारी थकान मिट जाएगी।”

खत्रीजी ने आगे बताया, “यहां दो पल बैठकर तुम फव्वारे की टोंटी को बायीं ओर घुमाना। इसके घुमाते ही फव्वारा बन्द हो जाएगा और जिस रास्ते से तुम इस तिलिस्म में घुसे थे, उसका रास्ता भी बन्द हो जाएगा। इस टोंटी का सम्बन्ध जीने की सीढ़ियों से है। उनके ऊपर अपने-आप एक शिला आ जाएगी और मिट्टी भी। संकटमोचन जाने वाला कोई व्यक्ति यह नहीं जान सकेगा कि उधर कुछ खोदा-पीटी भी हुई है।”

“मगर बाबू साहब, मैं वहां से निकलूंगा कैसे?” फव्वाराकर हमने पूछा। लेकिन इससे पूर्व कि हमें खत्रीजी कोई जवाब देते, टेली-फोन-आपरेटर ने ‘सिक्स मिनट्स ओवर’ कहकर कनेक्शन काट दिया। देखें, अब कब जुड़ता है?

खत्रीजी का नवीनतम उपन्यास मिला तो सही, पर प्राप्त होकर भी वह अशुद्ध ही रहा। वह अनाम और अरूप तो था ही, अलिखित भी निकला। नौ सन्दूकों में कोरे कागज के पचास हजार पृष्ठ अलग-अलग जिल्दों में बंधे हुए थे। पहली जिल्द के प्रथम पृष्ठ पर सुन्दर नागरी अक्षरों में लिखा था :

‘यह आज के जीवन, साहित्य और समाज की अलिखित कहानी है, जिसमें नाम का, व्यक्ति का और कृति का महत्व नहीं। सब कुछ कोरा, सपाट और अलिखित। यही तो है आज का जीवन, उसका साहित्य और समाज का ढाँचा।

इस अलिखित को कौन लिखे ? इस अकल्पित को कौन परोसे ? पढ़ेगा भी

नया उपन्यास कुएं में कूदने पर मिल सकता है

बड़ी मुश्किल से सात दिन बाद पुनः श्री देवकीनन्दन खत्री से फोन जुड़ा। बात यह हुई कि कुछ बिलों का भ्रमेला पड़ा हुआ था। कुछ ट्रंक कालों के बिल आ गए थे, और कुछ के नहीं आए थे। कुछ हमने किए ही नहीं थे और कुछ बिना किए ही हो गए थे। कुछ फोनोग्रामों की हमें तो याद थी, मगर पैसा लेने वाले उन्हें भूले हुए थे। हफ्तों से लिखा-पढ़ी चल रही थी कि बंठकर कभी हिसाब साफ कर लिया जाए। मगर फोन वालों ने हिसाब साफ करने की बजाय कनेक्शन ही साफ कर दिया। बड़ी मुश्किल से भारी दौड़-धूप के बाद फिर से लाइन जुड़ी है। गलत या सही, सारा रूपया तो एकमुस्त जमा करना ही पड़ा, साथ ही दो बड़े नेताओं से इस बात की गारंटी भी दिलानी पड़ी है कि फोन का आगे से मिस-यूज (गलत इस्तेमाल) नहीं होगा। यानी फोन पर आगे से जीवित व्यक्ति ही बात कर सकेंगे, मृतक या अर्ध-मृतक नहीं। पिछली बार रहीम खानखाना के मजदूर की बातचीत सुनकर, कहते हैं एक्सचेंज की कई लड़कियाँ बेहोश हो गई थीं।

हां, तो नमस्ते-नमस्ते के बाद खत्रीजी ने बताया, "घबराओ नहीं, हम आपको तिलिस्म से बाहर निकलने की भी राह बताएंगे, पहले पांडुलिपियों के सन्दूकों तक तो पहुंचा दें—हां, एक-दो नहीं, गिनती के पूरे नौ। उपन्यास के पूरे पचीस हजार पृष्ठों का ठोस मीटर है कि हँसी-खेल?"

"जी!"

"जी, बात यह है कि ये सन्दूक अत्यन्त गुप्त स्थान में रखे हुए

हैं, क्योंकि मैं साहित्यकारों की चोरी और प्रकाशकों की सीनाजोरी से शुरू से ही परिचित हूँ। इसीलिए मैंने उसी फव्वारे के दक्षिण में लगे एक पलाश वृक्ष के पश्चिम में उगी हुई नागफली के नीचे दुमंजिले तहखाने में इन्हें संभालकर रखा है।”

“यानी तिलिस्म के भीतर भी तिलिस्म !” हमने पूछा।

“हां !” खत्रीजी ने कहा, “वात यह है कि हमने सोचा अभी

“हां, खोलने पर वह कमरा तुम्हें बहुत ही अच्छा लगेगा। टाच जलाकर देखना—सामने ही एक तहत बिछा होगा। उस पर मसनद और गलीचे लगे होंगे और तहत की दाहिनी ओर की अलमारी के पीछे दीवार में एक-एक करके वे नौ सन्दूक चिने हुए हैं। अलमारी का ताला ‘जय भूतनाथ’ बहकर मुक्का मारने से खुलेगा। अलमारी का पत्थर तब सरकेगा, जब तुम यह कहोगे कि ‘चन्द्रकान्ते ! मैं आ गया हूं। द्वार खोलो !’

“और तुम्हारी पुकार पर अलमारी के पीछे का पत्थर अपने-आप नीचे खिसक जाएगा और एक-पर-एक रखे हुए वे नौ सन्दूक दिखाई देने लगेंगे।”

सत्रीजी ने आगे कहा, “उन्हें तुम होशियारी से एक-एक करके निकाल लेना। इन्हीं सन्दूकों में मेरे नवीनतम उपन्यास की पांडुलिपि है।”

“ठीक है, मैं ऐसा ही करूंगा।” हमने कहा।

“नहीं, अभी धीरे भी बहुत कुछ बहना शेष है।” सत्रीजी बोले।

“बया, बाबू साहब ?”

“यह कि वे सब कागज कोरे हैं, उन पर कुछ लिखा नहीं है।”

“लिखा नहीं है ?”

“हां ! एबदम कोरे हैं, मात्र के बल्पना-शून्य लेखकों की तरह। बर्दाश्तार है, मात्रकाल के बया-लेखकों के भारी, किन्तु व्यर्थ दावाएं की तरह। दोषित हैं, मात्रकाल के बुद्धिजीवी विचारकों के प्रश्नोत्तरी तर्कों की तरह। अन्त-अन्त सन्दूकों में बन्द हैं, पृथक्-पृथक् दृष्टि-कोणों और मतभेदों की तरह।”

हम बरस गए कि सत्रीजी यह क्या कह रहे हैं ?

यह कह रहे थे, “अगर तुम खुद क्यों हो गए ? क्या तुम ऐसा अनुभव करते हो कि दुनिया मारी निविष्म सोइने पर भी तुम्हारे हाथ कुछ नहीं मरेगा ?”

“जी ! ”

‘तो तुम्हारा यह सोचना गलत है । नौ सन्दूकों में से एक टन कोरे बढ़िया कागज की उपलब्धि क्या कोई कम है ? आजकल की कागज की तंगी के जमाने में इनका क्या मूल्य है, जरा सोचिए ? लिखें और छपे कागजों की तो रद्दी भी दो आने किलो बिकती है । यह तो उम्दा किस्म का पुराना बैक पेपर है, विलायती । अब मिलता भी

द्विवेदीजी का लिफाफा मिला

आया फोन कनकल से। किया आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक ऐतिहासिक शिष्य ने। रात को उन्हें सपने में 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक दिखाई दिए थे। स्वप्न में द्विवेदीजी ने उन्हें बताया, "चिरंजीव, मेरे जिस लिफाफे के लिए तुम परेशान थे, वह काशी नागरी प्रचारिणी सभा में है ही नहीं। वह मेरे गांव दौलतपुर में है। अगर तुम परिश्रम कर सको तो उसे प्राप्त करने की विधि बताई जा सकती है।"

फोनकर्ता ने गुरु-शिष्य-संवाद को आगे बढ़ाते हुए बताया :

"वह, तुम तो दौलतपुर कई बार गए हो। मकान के दाहिनी ओर वाले कमरे में, जहां मैं सोया करता था, वहीं मेरी सभी लभ्य और अलभ्य सामग्री सुरक्षित है। मेरा पलंग आज भी वहां जैसे-का-तैसा बिछा रहता है। उसके सिरहाने के बाएं वाले पाए के नीचे तुम तीन हाथ चौड़ा और पांच हाथ गहरा गड्ढा खोदना। वहीं तुम्हें एक सवा हाथ चौड़ी पत्थर की शिला मिलेगी। इसे सावधानी से उठाना। इस शिला के नीचे मेरा इलाहाबादी संदूक रखा है। उसी संदूक में तुम्हें वह ऐतिहासिक लिफाफा मिल जाएगा।"

"शिला को उठाते समय..." आचार्य द्विवेदी ने हिदायत दी, "अपने साथ एक मोटा सोटा और दूध से भरा लोटा अवश्य रखना। सभा का एक पुराना सदस्य उस लिफाफे पर कुण्डली मारकर बंठा हुआ है। वह तुम्हें देखते ही फुंकरेगा। पर तुम्हारी बड़ी-बड़ी मूर्छ और हाथ में मोटे को देखकर वह डर जाएगा। तुम उसे मारना नहीं। लोटा एक कोने में रखकर डंडे से इशारा कर देना। वह तुम्हारा

हलो-हलो

रास्ता छोड़ देगा ।”

सहसा फोन पर गड़बड़ी सुनाई दी । दिल्ली का आपरेटर अपनी साथिन से कह रहा था, “अप्यारी कहानी का मजा लेना हो तो लीला-जी, तुम भी कनैवदान लगा लो ।” आपरेटरों की इस हिमाकत पर कनखल वाले शास्त्रीजी बिगड़ उठे । किसी प्रकार शान्त होकर हमें

तो केवल गुण-ग्राहक हैं। तो लीजिए पहला पत्र :

१

काशी

पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज,

चरण कमलेभ्यो नमः। मार्च महीना की 'सरस्वती' में अपनी कविता छपी देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आजकल हम यहां अपने परम मित्र... दासजी के पास एक व्यापारिक प्रसंग से आए हुए हैं। उनसे जब अपनी कविता मुद्रित होने की चर्चा सुनी तब बाजार में सेवक भेजकर पत्रिका मंगवाई। पत्रिका में अपने नाम की कविता बांधिके चित्त में आनन्द और विस्मय के भाव एक साथ जाग्रत हुए। आनन्द अपना नाम नयन-गोचर करके और आश्चर्य कविता को बांधिके हुआ। गुरुदेव, हमने तो कविता रावण को बहन सूर्यनखा पर पड़ाई थी, पर यह तो जनकनन्दिनी माता जानकीजी के शीपंक से मुद्रित हुई है। हमारी कविता तो हरिणीतिका छन्द में रची गई थी, पर यह तो वंशस्थ में है। हमने तो साधारण और ठेठ बोलचाल की भाषा में वर्णन किया था, मगर यह तो संस्कृत-गमित है। हमने कटी नाक को उलूक-नासिका की उगमा दी थी, मगर जब कविता पढ़ी तब उसमें बंगा था ही नहीं। आचार्यवर, कहीं किसी अन्य की कृति तो हमारे नाम से नहीं छप गई है? यदि ऐसा नहीं है, तो फिर यह आपकी कृपा का ही प्रसाद है। प्राचीन कवियों ने ठीक ही कहा है :

गुरु विनु ऐसी कौन करे ?

माया, मित्र मनेहर बानो

से निर छत्र करे ।

भविष्य में भी आपसे ऐसी ही कृपा की कामना है। सौटमी बेर प्रसाद होकर आने का मन्त्र है। गुरुजी के 'महाप्रसाद' के लिए 'बंक का मन्दार' धाम नग २५० का प्रबंध कर लिया है।

शरद रत्न-

हलो-हलो

८३

इस पत्र का उत्तर साथ में नयी नहीं है । पत्र के ऊपर कोने में लाल पेंसिल से इतना अवश्य लिखा है--हिन्दी कविता को शूर्पनखा की नही, सीता की आवश्यकता है । कविता की भाषा देहाती नहीं, सुसंस्कृत होनी चाहिए ।—द्वि०

हलो-हलो

८५

जीवन में कभी ऐसे साहित्यकार से आपका सावका नहीं पड़ा, जो कलम से ही नहीं, देह से भी मजबूत है।

अभी इतना ही।

भवदीय

.....

लगता है द्विवेदीजी ने इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। यह पत्र देसी गौद से

उस दिन अचानक आचार्य रामचन्द्र
बुक्स फोन पर आ गए। उन्होंने परलोक में
भी साहित्य प्रचारिणी सभा की स्थापना
कर डाली है और हिन्दी के आधुनिक
साहित्य का नए सिरे से इतिहास लिखना



नए साहित्य का नवीनतम काल-विभाजन

“हमारी-आपकी तो शायद कही मुलाकात हुई है ?” शुक्लजी ने हमसे फोन पर पूछा ।

“जी हां, कई बार !”

“शायद आप काशी के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में बाबू गुलाबराय के साथ आए थे । तब मेरा मकान बन रहा था ।” आचार्य ने कहा ।

“जी हां, हम लोग आपके मकान पर भी हाजिर हुए थे । उस वर्ष आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था ।”

“हां, वह बड़े मौके पर मिला था । मकान के सिलसिले में उस समय रुपये की बहुत सख्त जरूरत थी । कहिए, कुशल से तो हैं ?”

“जी हां, कृपा है आपकी ।”

“मुनिए, एक बात पूछनी थी,” शुक्लजी ने कहा, “आप जो स्वर्गस्थ साहित्यकारों के इण्टरव्यू ले रहे हैं वे कल्पित हैं, या वास्तविक ?”

हमने उत्तर दिया, “शुक्लजी महाराज, अगर आप वास्तविक हैं तो लेखमाला भी वास्तविक है । अभी टेलीविजन तो दिल्ली में घर-घर चालू हुआ नहीं । इसलिए आवाज ही सुनी जाती है, शकल तो सामने आती नहीं ।”

“शकल मले ही सामने न आए, मगर जो सामग्री सामने आ रही है, वह तो अद्भुत है । क्या बताऊं, मैं तो जल्दी ही घरती से उठ गया, नहीं तो अपने इतिहास में आपका उल्लेख भी अवश्य करता ।”

हमने कहा, "कोई बात नहीं। हमें तो आपके फोनिक आशी-
वाँद से ही तसल्ली है। मगर क्या आप आजकल का साहित्य देखते
हैं?"

"वह तो अपना पुराना व्यसन है। हम लोगों ने यहां भी एक
साहित्य प्रचारिणी सभा खोल ली है। बाबू श्यामसुन्दर दास उसके
मंत्री हैं और भारतेन्दुजी अध्यक्ष। पं० प्रतापनारायण मिश्र तो
पढ़ने से थे

से हर साल भारी सादाद में डाक्टर खाले जा रहे हैं। इयर एम० ए० पास करो और उयर डाक्टर बनो ! देश में साहित्य की बीमारी बहुत तेजी से बढ़ रही है न ? उदधार के लिए डाक्टर चाहिए ही। साहित्य में भले ही कोई व्यक्ति या संघ स्वीकृत न हुआ हो, विश्वविद्यालय की लेबोरेटरी में उस पर तरकान काम प्रारम्भ हो जाता है। भाग्य मर-कार को अपने निर्णयों में इस विश्वविद्यालयी सत्परता से मुख्यक सेना चाहिए। सोम

हिन्दी का एक
व्यापक अपने पास
शुक्ल जी की मुँछों के दो
बाल संभोए हुए है। वह
प्रति दिन उन्हें धूप देना



शुक्लजी की मूंछों का रहस्य

“दिल्ली के टेलीफोन वाले तो बड़े निर्दयी हैं।” आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा, “देखा न, उस दिन हमारा वाक्य भी पूरा न हो पाया कि कनेक्शन काट दिया।”

“उन्होंने आजकल हिन्दी के समालोचकों से होड़ लगा रखी है। जैसे आजकल के समालोचक बिना पूरी कृति को पढ़े ही उस पर अपनी राय बना लेते हैं और लेखक में अपना कनेक्शन काट लेते हैं वैसे ही फोन वाले भी करते हैं।”

“स्वयं आपने भी महाराज, अपने जीवन में यही किया। लोग चिल्लाते ही रहे, मगर आपने केशव को, कबीर को और छाया-वादियों को हृदय में स्वीकार नहीं ही किया।”

“तो क्या आपके टेलीफोन वाले भी छायावादी हैं, जो हमारी बात को बीच में काट रहे हैं?” शुक्लजी ने मूंछों-मूंछों में मुगकराते हुए कहा होगा। “हाँ, हिन्दी समालोचना का हाल आजकल बहुत बुरा हो गया है। मैंने इसका भी वर्गीकरण किया है—मूढ़-देगी, नाम-देगी, प्रज्ञान-शून्य और तू मुझको तो मैं तुमको।”

हमने सोचा कि शुक्लजी ने आज कहीं समालोचना अध्याय खोल दिया तो निश्चयी बात रह जाएगी और छः मिनट बाद फोन फिर बट जाएगा। इसलिए पूछा, “आचार्य, आप उस दिन अणुवाराधयी साहित्य का वर्णन कर रहे थे न?”

शुक्लजी बोले, “हाँ, मैंने आपको रामायणयी और विश्वविद्यालयाययी साहित्य के भेदाभेद निश्चयी बात बताए थे। आज अणु-वाद्यययी और सङ्काययी यानी शोकययी शांता की बात

कहूंगा। भाजकल के अखबार हर रोज नए नेताओं का ही निर्माण नहीं करते, उनकी फैक्टरी से प्रतिदिन दर्जनों साहित्यकार भी ढलकर बाजार में घाते रहते हैं। जैसे मैथिलीशरणजी के बिना उमिला की कथा अनकही रह जाती, उसी प्रकार अगर अखबार न होते तो आज के ६६६६ कवि, ४२० कहानी-लेखक और कम-से-कम १० उपन्यासकार या तो जन्म ही नहीं लेते, या पैदा हो गए होते तो कलर्की, किरानी

कुछ यहाँ गे, कुछ दगका, कुछ उमका कँची में काटकर गोंद में चिपकाते हैं कि पकड़ने वाला पकड़ न पाए और पढ़ने वाला लोहा मान जाए। इनमें गे कुछ 'सीजन' होते हैं और कुछ 'रीजन'। हर 'सीजन' और हर 'रीजन' की रचनाएं इनके पास तैयार रहती हैं। ननुष्ठा तेली से लेकर नेहरूजी तक के जन्म-मृत्यु का लेखा इनके पास होता है। दघर आर्डर मिला और उघर सप्ताई हुई। यह मशीनी साहित्य है, हृदय का राग इसमें स्पन्दित नहीं होता। इनके शीर्षक और डिजाइन ही देखने योग्य होते हैं। मैं तो सिर्फ लेखकों के नाम ही देखता हूँ, पढ़ने का कभी कष्ट नहीं करता। आजकल के अखबार डिजाइन वर्गैरह के लिए छापे जाते हैं, साहित्य के प्रकाशन और प्रवर्द्धन से उनका क्या वास्ता? इसीलिए मैं भी उनसे अपना वास्ता नहीं रखता।”

“और लोकाश्रयी साहित्य के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?” हमने शुक्लजी से पूछा।

“लोकाश्रयी साहित्य तो शुद्ध अर्थ में रहा ही नहीं। क्योंकि लोक का रस इस समय साहित्य में है ही नहीं। वह तो रोटी और बोटी की चिन्ता में घुला जा रहा है। आजकल लोक-मानस जड़ता से पीड़ित है। उसे नारे चाहिए, साहित्य नहीं। श्रम-सीकर चाहिए, मलय-समीर नहीं। इस्पात-पिंड चाहिए, पाटल-पटल नहीं। इसलिए लोकाश्रयी साहित्य भी आजकल कामोदरवाद से पीड़ित है। मेरा चित्त इसे देखकर स्लानि से भर जाता है। कृपया इसके बारे में मुझसे कुछ अधिक न कहलाइए।”

हमने कहा, “छोड़िए! मगर इतना तो बता दीजिए कि इस समय हिन्दी में आपका सही उत्तराधिकारी कौन है? क्योंकि इस पर अनेक लोगों के दावे हैं और विद्यार्थी मुश्किल में हैं।”

सुनकर शुक्लजी हँसे। कहने लगे, “जब यह प्रश्न नेहरूजी ने जीते-जी तय नहीं किया तो मुझसे आप ऐसी दुराशा क्यों करते हैं?”

हम कुछ कहने ही वाले थे कि एक पतली-सी आवाज सुनाई

दी, "सिक्स मिनट्स ओवर प्लीज ।"

हम गिड़गिड़ाए, "केवल कुछ सेकंड और दीजिए, मैडम !"

उत्तर मिला, "ओ, हम मैडम नहीं, मिस हैं। जल्दी खत्म कीजिए ।"

सुनकर शुक्लजी बोले, "लीजिए, अल्टीमेटम आ गया। खैर, सुनिए—मैंने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया। हां, एक



फोन इस बार भूत से नहीं,
वर्तमान से हुआ। खबर हमने
किसीकी नहीं, किसी ने हमारी





"धमा कीजिए," हमने कहा, "फोन पर धावाज साफ नहीं आ रही । क्या कहा आपने—प्रयोजन या भोजन ?"

उत्तर मिला, "प्रयोजन ! यानी मतलब ?"

"मतलब ? यानी स्वार्थ ! अजी, छोड़िए भी स्वार्थ की बातें, कुछ परमार्थ-चर्चा कीजिए । कहिए, बाल-बच्चे तो मजे में हैं ?"

"मजे में ! वे तो आपकी ऊटपटांग रचनाएं पढ़-पढ़कर बिगड़

फोन भूत से नहीं, वर्तमान से आया

“हलो !”

“जी !”

“इज इट टू सेवन एट डबल टू वन ?”

“जी !”

“आप ही आजकल ‘हलो-हलो’ लिखते हैं ?”

“जी !”

“यह फोन आपका ही है ? आप खुद ही बोल रहे हैं न ?”

“फोन तो जी सरकारी है। किराये का है। बोल मैं असबत्ता खुद रहा हूँ।”

“आप क्या बोलते हैं ? क्या कहते हैं ? उसका क्या अर्थ होता है ? कभी यह भी सोचा है ?”

हम चकराये। मामला क्या है ? पूछा, “जी, समझ में नहीं आया कि आप क्या कहना चाहते हैं ?”

उत्तर मिला, “कहना यही चाहते हैं, आप जो कुछ इस कॉलम में लिख रहे हैं, वह भी हमारी समझ में नहीं आ रहा।”

हमने धीरे-से कहा, “तो फिर इसे समझ बा फेर कहने की धृष्टता की जाए !”

“धृष्टता तो आप कर ही रहे हैं,” फोन पर डाँटने हुए हमें कहा गया, “मान्य साहित्यकारों, महात्माओं और समाज में प्रतिष्ठित पुरुषों के सम्बन्ध में बेमसाम और बेतुफी बानें आप क्यों लिख रहे हैं ? इस प्रकार की निराधार और इमंजल बानें दिरने का आपका प्रयोजन क्या है ?”

“क्षमा कीजिए,” हमने कहा, “फोन पर आवाज साफ नहीं आ रही। क्या कहा आपने—प्रयोजन या भोजन ?”

उत्तर मिला, “प्रयोजन ! यानी मतलब ?”

“मतलब ? यानी स्वार्थ ! अजी, छोड़िए भी स्वार्थ की बातें, कुछ परमार्थ-चर्चा कीजिए। कहिए, बाल-बच्चे तो मजे में हैं ?”

“मजे में ! वे तो आपकी ऊटपटांग रचनाएं पढ़-पढ़कर बिगड़

है ! जय-जय भारत पर हवाई हमले का खतरा बढ़ता है, अपना तबला भी जोर से बजने लगता है । आप ही बताइए हवा को किसी ने पकड़ा है ? छाया को किसी ने बांधा है ?”

उधर से आवाज आयी, “तो इसमें इतना धीर जोड़िए कि निलंज को कभी किसी ने गाली दी है ?”

“बिलकुल सही फरमाया आपने । मगर लज्जा का अर्थ कृपया आप धीर जान लीजिए ।”

मारे गुस्से के शायद उधर से फोन करने वाले सज्जन का बोल नहीं निकला । मगर हमने कहना जारी रखा ।

“सुनिए,” हमने कहा, “जयशंकर प्रसादजी लज्जा के बारे में फरमा गए हैं—मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
श्री शालीनता सिखाती हूँ ।”

“पर आप तो शालीनता से जरा भी काम नहीं ले रहे । घटनाओं और रचनाओं को बुरी तरह तोड़-मरोड़ रहे हैं ।”

“मगर सुनिए, इसमें हमारा कोई कसूर नहीं ।”

“तो फिर किसका है ?”

“कसूर युग का है जी ! यह युग ही तोड़-फोड़ का है । सीधे कोई साहित्य के गढ़ में घुसने ही नहीं देता तो हमने सोचा—तोड़-फोड़ से ही घुसा जाय ।”

“तो क्या साहित्य में भी तोड़-फोड़ चलती है ?”

“तोड़-फोड़ ही नहीं, जोड़-तोड़ भी चलती है ।”

“कैसे ?”

“ऐसे कि पहले किसी पुराने साहित्यकार की रचना को तोड़-फोड़ करके अपना बनाना शुरू किया ।”

“जी !”

“फिर जब कुछ लिखने लगे तो कहना शुरू किया—अजी, अमुक क्या जानता है, अमुक ने क्या लिखा है, वह क्या लिखेगा ? यह दूसरे नम्बर की तोड़-फोड़ हुई ।”

हलो-हलो

१०३

“जी !”

“फिर किसी कवि-सम्मेलन के संयोजक को चाय पिलाकर, पत्रिका के सम्पादक को किसी कांफ्रेंस का सभापति बनाकर, किसी प्रकाशक की किताबें देहाती लाइब्रेरी में खरीदवाकर दूसरों की तरफ से तोड़ा और अपनी तरफ फोड़ा।”

“और जोड़-तोड़ ?”



